

अध्याय दो

गीता का सार

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।

विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; तम्—अर्जुन के प्रति; तथा—इस प्रकार; कृपया—करुणा से; आविष्टम्—अभिभूत; अश्रु-पूर्ण-आकुल—अश्रुओं से पूर्ण; ईक्षणम्—नेत्र; विषीदन्तम्—शोकयुक्त; इदम्—यह; वाक्यम्—वचन; उवाच—कहा; मधु-सूदनः—मधु का वध करने वाले (कृष्ण) ने।

संजय ने कहा—करुणा से व्याप्त, शोकयुक्त, अश्रुपूरित नेत्रों वाले अर्जुन को देख कर मधुसूदन कृष्ण ने ये शब्द कहे।

तात्पर्य

भौतिक पदार्थों के प्रति करुणा, शोक तथा अश्रु—ये सब असली आत्मा को न जानने के लक्षण हैं। शाश्वत आत्मा के प्रति करुणा ही आत्म-साक्षात्कार है। इस श्लोक में मधुसूदन शब्द महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण ने मधु नामक असुर का वध किया था और अब अर्जुन चाह रहा है कि कृष्ण उस अज्ञान रूपी असुर का वध करें जिसने उसे कर्तव्य से विमुख कर रखा है। यह कोई नहीं जानता कि करुणा का प्रयोग कहाँ होना चाहिए। डूबते हुए मनुष्य के वस्त्रों के लिए करुणा मूर्खता होगी। अज्ञान-सागर में गिरे हुए मनुष्य को केवल उसके बाहरी पहनावे अर्थात् स्थूल शरीर की रक्षा करके नहीं बचाया जा सकता। जो इसे नहीं जानता और बाहरी पहनावे के लिए शोक करता है, वह शूद्र कहलाता है अर्थात् वह वृथा ही शोक करता है। अर्जुन तो क्षत्रिय था, अतः उससे ऐसे आचरण की आशा न थी। किन्तु भगवान् कृष्ण अज्ञानी पुरुष के शोक को विनष्ट कर सकते हैं और इसी

उद्देश्य से उन्होंने *भगवद्गीता* का उपदेश दिया। यह अध्याय हमें भौतिक शरीर तथा आत्मा के वैश्लेषिक अध्ययन द्वारा आत्म-साक्षात्कार का उपदेश देता है, जिसकी व्याख्या परम अधिकारी भगवान् कृष्ण द्वारा की गई है। यह साक्षात्कार तभी सम्भव है जब मनुष्य निष्काम भाव से कर्म करे और आत्म-बोध को प्राप्त हो।

ॐ ॐ ॐ

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री- भगवान् उवाच— भगवान् ने कहा; कुतः—कहाँ से; त्वा—तुमको; कश्मलम्—गंदगी, अज्ञान; इदम्—यह शोक; विषमे—इस विषम अवसर पर; समुपस्थितम्—प्राप्त हुआ; अनार्य—वे लोग जो जीवन के मूल्य को नहीं समझते; जुष्टम्—आचरित; अस्वर्ग्यम्—उच्च लोकों को जो न ले जाने वाला; अकीर्ति—अपयश का; करम्—कारण; अर्जुन—हे अर्जुन।

श्रीभगवान् ने कहा—हे अर्जुन! तुम्हारे मन में यह कल्मष आया कैसे? यह उस मनुष्य के लिए तनिक भी अनुकूल नहीं है, जो जीवन के मूल्य को जानता हो। इससे उच्चलोक की नहीं अपितु अपयश की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण तथा भगवान् अभिन्न हैं, इसीलिए श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण *गीता* में भगवान् ही कहा गया है। भगवान् परम सत्य की पराकाष्ठा हैं। परम सत्य का बोध ज्ञान की तीन अवस्थाओं में होता है—ब्रह्म या निर्विशेष सर्वव्यापी चेतना, परमात्मा या भगवान् का अन्तर्यामी रूप जो समस्त जीवों के हृदय में है तथा भगवान् या श्रीभगवान् कृष्ण। *श्रीमद्भागवत* में (१.२.११) परम सत्य की यह धारणा इस प्रकार बताई गई है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

“परम सत्य का ज्ञाता परम सत्य का अनुभव ज्ञान की तीन अवस्थाओं में करता है, और ये सब अवस्थाएँ एकरूप हैं। ये ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के रूप में व्यक्त की जाती हैं।”

इन तीन दिव्य पक्षों को सूर्य के दृष्टान्त द्वारा समझाया जा सकता है क्योंकि उसके भी तीन भिन्न-भिन्न पक्ष होते हैं—यथा, धूप(प्रकाश), सूर्य की सतह तथा सूर्यलोक स्वयं। जो सूर्य के प्रकाश का अध्ययन करता है वह नौसिखिया है। जो सूर्य की सतह को समझता है वह कुछ आगे बढ़ा हुआ होता है और जो सूर्यलोक में प्रवेश कर सकता है वह उच्चतम ज्ञानी है। जो नौसिखिया सूर्य प्रकाश—उसकी विश्व व्याप्ति तथा उसकी निर्विशेष प्रकृति के अखण्ड तेज—के ज्ञान से ही तुष्ट हो जाता है वह उस व्यक्ति के समान है जो परम सत्य के ब्रह्म रूप को ही समझ सकता है। जो व्यक्ति कुछ अधिक जानकार है वह सूर्य गोले के विषय में जान सकता है जिसकी तुलना परम सत्य के परमात्मा स्वरूप से की जाती है। जो व्यक्ति सूर्यलोक के अन्तर में प्रवेश कर सकता है उसकी तुलना उससे की जाती है जो परम सत्य के साक्षात् रूप की अनुभूति प्राप्त करता है। अतः जिन भक्तों ने परम सत्य के भगवान् स्वरूप का साक्षात्कार किया है वे सर्वोच्च अध्यात्मवादी हैं, यद्यपि परम सत्य के अध्ययन में रत सारे विद्यार्थी एक ही विषय के अध्ययन में लगे हुए हैं। सूर्य का प्रकाश, सूर्य का गोला तथा सूर्यलोक की भीतरी बातें—इन तीनों को एक दूसरे से विलग नहीं किया जा सकता, फिर भी तीनों अवस्थाओं के अध्येता एक ही श्रेणी के नहीं होते।

संस्कृत शब्द *भगवान्* की व्याख्या व्यासदेव के पिता पराशर मुनि ने की है। समस्त धन, शक्ति, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा त्याग से युक्त परम पुरुष *भगवान्* कहलाता है। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो अत्यन्त धनी हैं, अत्यन्त शक्तिमान हैं, अत्यन्त सुन्दर हैं और अत्यन्त विख्यात, विद्वान् तथा विरक्त भी हैं, किन्तु कोई साधिकार यह नहीं कह सकता कि उसके पास सारा धन, शक्ति आदि है। एकमात्र कृष्ण ही ऐसा दावा कर सकते हैं क्योंकि वे भगवान् हैं। ब्रह्मा, शिव या नारायण सहित कोई भी जीव कृष्ण के समान पूर्ण ऐश्वर्यवान नहीं है। अतः *ब्रह्मसंहिता* में स्वयं ब्रह्माजी का निर्णय है कि

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। न तो कोई उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है। वे आदि स्वामी या भगवान् हैं, गोविन्द रूप में जाने जाते हैं और समस्त कारणों के परम कारण हैं—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः ।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

“ऐसे अनेक पुरुष हैं जो भगवान् के गुणों से युक्त हैं, किन्तु कृष्ण परम हैं क्योंकि उनसे बढ़कर कोई नहीं है। वे परमपुरुष हैं और उनका शरीर सच्चिदानन्दमय है। वे आदि भगवान् गोविन्द हैं और समस्त कारणों के कारण हैं।” (ब्रह्मसंहिता ५.१) भागवत में भी भगवान् के नाना अवतारों की सूची है, किन्तु कृष्ण को आदि भगवान् बताया गया है, जिनसे अनेकानेक अवतार तथा ईश्वर विस्तार करते हैं—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥

“यहाँ पर वर्णित सारे अवतारों की सूचियाँ या तो भगवान् की अंशकलाओं अथवा पूर्ण कलाओं की हैं, किन्तु कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं।” (भागवत् १.३.२८) अतः कृष्ण आदि भगवान्, परम सत्य, परमात्मा तथा निर्विशेष ब्रह्म दोनों के उद्गम हैं।

भगवान् की उपस्थिति में अर्जुन द्वारा स्वजनों के लिए शोक करना सर्वथा अशोभनीय है, अतः कृष्ण ने कृतः शब्द से अपना आश्चर्य व्यक्त किया है। आर्य जैसी सभ्य जाति के किसी व्यक्ति से ऐसी मलिनता की उम्मीद नहीं की जाती। आर्य शब्द उन व्यक्तियों पर लागू होता है जो जीवन के मूल्य को जानते हैं और जिनकी सभ्यता आत्म-साक्षात्कार पर निर्भर करती है। देहात्मबुद्धि से प्रेरित मनुष्यों को यह ज्ञान नहीं रहता कि जीवन का उद्देश्य परम सत्य, विष्णु या भगवान् का साक्षात्कार है। वे तो भौतिक जगत के बाह्य स्वरूप से मोहित हो जाते हैं, अतः वे यह नहीं समझ पाते कि मुक्ति क्या है। जिन पुरुषों को भौतिक बन्धन से मुक्ति का कोई ज्ञान नहीं होता वे अनार्य कहलाते हैं। यद्यपि अर्जुन क्षत्रिय था, किन्तु युद्ध से विचलित होकर वह अपने कर्तव्य से च्युत हो रहा था। उसकी यह कायरता अनार्यों के लिए ही शोभा देने वाली हो सकती है। कर्तव्य-पथ से

इस प्रकार का विचलन न तो आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने में सहायक बनता है न ही इससे इस संसार में ख्याति प्राप्त की जा सकती है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन द्वारा अपने स्वजनों पर इस प्रकार की करुणा का अनुमोदन नहीं किया।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

क्लैब्यम्—नपुंसकता; मा स्म—मत; गमः—प्राप्त हो; पार्थ—हे पृथापुत्र; न—कभी नहीं; एतत्—यह; त्वयि—तुमको; उपपद्यते—शोभा देता है; क्षुद्रम्—तुच्छ; हृदय—हृदय की; दौर्बल्यम्—दुर्बलता; त्यक्त्वा—त्याग कर; उत्तिष्ठ—खड़ा हो; परन्तप—हे शत्रुओं का दमन करने वाले।

हे पृथापुत्र! इस हीन नपुंसकता को प्राप्त मत होओ। यह तुम्हें शोभा नहीं देती। हे शत्रुओं के दमनकर्ता! हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़े होओ।

तात्पर्य

अर्जुन को पृथापुत्र के रूप में सम्बोधित किया गया है। पृथा कृष्ण के पिता वसुदेव की बहन थीं, अतः कृष्ण के साथ अर्जुन का रक्त-सम्बन्ध था। यदि क्षत्रिय-पुत्र लड़ने से मना करता है तो वह नाम का क्षत्रिय है और यदि ब्राह्मण पुत्र अपवित्र कार्य करता है तो वह नाम का ब्राह्मण है। ऐसे क्षत्रिय तथा ब्राह्मण अपने पिता के अयोग्य पुत्र होते हैं, अतः कृष्ण यह नहीं चाहते थे कि अर्जुन अयोग्य क्षत्रिय पुत्र कहलाए। अर्जुन कृष्ण का घनिष्ठतम मित्र था और कृष्ण प्रत्यक्ष रूप से उसके रथ का संचालन कर रहे थे, किन्तु इन सब गुणों के होते हुए भी यदि अर्जुन युद्धभूमि को छोड़ता है तो वह अत्यन्त निन्दनीय कार्य करेगा। अतः कृष्ण ने कहा कि ऐसी प्रवृत्ति अर्जुन के व्यक्तित्व को शोभा नहीं देती। अर्जुन यह तर्क कर सकता था कि वह परम पूज्य भीष्म तथा स्वजनों के प्रति उदार दृष्टिकोण के कारण युद्धभूमि छोड़ रहा है, किन्तु कृष्ण ऐसी उदारता को केवल हृदय दौर्बल्य मानते हैं। ऐसी झूठी उदारता का अनुमोदन एक भी शास्त्र नहीं

करता। अतः अर्जुन जैसे व्यक्ति को कृष्ण के प्रत्यक्ष निर्देशन में ऐसी उदारता या तथाकथित अहिंसा का परित्याग कर देना चाहिए।

❧ ❧ ❧

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।

इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; कथम्—किस प्रकार; भीष्मम्—भीष्म को; अहम्—मैं; सङ्ख्ये—युद्ध में; द्रोणम्—द्रोण को; च—भी; मधु-सूदन—हे मधु के संहारकर्ता; इषुभिः—तीरों से; प्रतियोत्स्यामि—उलट कर प्रहार करूँगा; पूजा-अर्हो—पूजनीय; अरि-सूदन—हे शत्रुओं के संहारक!.

अर्जुन ने कहा—हे शत्रुहन्ता! हे मधुसूदन! मैं युद्धभूमि में किस तरह भीष्म तथा द्रोण जैसे पूजनीय व्यक्तियों पर उलट कर बाण चलाऊँगा ?

तात्पर्य

भीष्म पितामह तथा द्रोणाचार्य जैसे सम्माननीय व्यक्ति सदैव पूजनीय हैं। यदि वे आक्रमण भी करें तो उन पर उलट कर आक्रमण नहीं करना चाहिए। यह सामान्य शिष्टाचार है कि गुरुजनों से वाग्युद्ध भी न किया जाय। यहाँ तक कि यदि कभी वे रुक्ष व्यवहार करें तो भी उनके साथ रुक्ष व्यवहार न किया जाय। तो फिर भला अर्जुन उन पर बाण कैसे छोड़ सकता था? क्या कृष्ण कभी अपने पितामह, नाना उग्रसेन या अपने आचार्य सान्दीपनि मुनि पर हाथ चला सकते थे? अर्जुन ने कृष्ण के समक्ष ये ही कुछ तर्क प्रस्तुत किये।

❧ ❧ ❧

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्

श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।

हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव

भुञ्जीय भोगान्कथिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

गुरून्—गुरुजनों को; अहत्वा—न मार कर; हि—निश्चय ही; महा-अनुभावान्—महापुरुषों को; श्रेयः—अच्छा है; भोक्तुम्—भोगना; भैक्ष्यम्—भीख माँगकर; अपि—

भी; इह—इस जीवन में; लोके—इस संसार में; हत्वा—मारकर; अर्थ—लाभ की; कामान्—इच्छा से; तु—लेकिन; गुरून्—गुरुजनों को; इह—इस संसार में; एव—निश्चय ही; भुञ्जीय—भोगने के लिए बाध्य; भोगान्—भोग्य वस्तुएँ; रुधिर—रक्त से; प्रदिग्धान्—सनी हुई, रंजित।

ऐसे महापुरुषों को जो मेरे गुरु हैं, उन्हें मार कर जीने की अपेक्षा इस संसार में भीख माँग कर खाना अच्छा है। भले ही वे सांसारिक लाभ के इच्छुक हों, किन्तु हैं तो गुरुजन ही! यदि उनका वध होता है तो हमारे द्वारा भोग्य प्रत्येक वस्तु उनके रक्त से सनी होगी।

तात्पर्य

शास्त्रों के अनुसार ऐसा गुरु जो निंद्य कर्म में रत हो और जो विवेकशून्य हो, त्याज्य है। दुर्योधन से आर्थिक सहायता लेने के कारण भीष्म तथा द्रोण उसका पक्ष लेने के लिए बाध्य थे, यद्यपि केवल आर्थिक लाभ से ऐसा करना उनके लिए उचित न था। ऐसी दशा में वे आचार्यों का सम्मान खो बैठे थे। किन्तु अर्जुन सोचता है कि इतने पर भी वे उसके गुरुजन हैं, अतः उनका वध करके भौतिक लाभों का भोग करने का अर्थ होगा—रक्त से सने अवशेषों का भोग।

न चैतद्विद्वाः कतरन्नो गरीयो

यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषाम-

स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; च—भी; एतत्—यह; विद्वाः—हम जानते हैं; कतरत्—जो; नः—हमारे लिए; गरीयः—श्रेष्ठ; यत् वा—अथवा; जयेम—हम जीत जाएँ; यदि—यदि; वा—या; नः—हमको; जयेयुः—वे जीतें; यान्—जिनको; एव—निश्चय ही; हत्वा—मारकर; न—कभी नहीं; जिजीविषामः—हम जीना चाहेंगे; ते—वे सब; अवस्थिताः—खड़े हैं; प्रमुखे—सामने; धार्तराष्ट्राः—धृतराष्ट्र के पुत्र।

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए क्या श्रेष्ठ है—उनको जीतना या उनके द्वारा जीते जाना। यदि हम धृतराष्ट्र के पुत्रों

का वध कर देते हैं तो हमें जीवित रहने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी वे युद्धभूमि में हमारे समक्ष खड़े हैं।

तात्पर्य

अर्जुन की समझ में यह नहीं आ रहा था कि वह क्या करे—युद्ध करे और अनावश्यक रक्तपात का कारण बने, यद्यपि क्षत्रिय होने के नाते युद्ध करना उसका धर्म है; या फिर वह युद्ध से विमुख हो कर भीख माँग कर जीवन-यापन करे। यदि वह शत्रु को जीतता नहीं तो जीविका का एकमात्र साधन भिक्षा ही रह जाता है। फिर जीत भी तो निश्चित नहीं है क्योंकि कोई भी पक्ष विजयी हो सकता है। यदि उसकी विजय हो भी जाय (क्योंकि उसका पक्ष न्याय पर है), तो भी यदि धृतराष्ट्र के पुत्र मरते हैं, तो उनके बिना रह पाना अत्यन्त कठिन हो जायेगा। उस दशा में यह उसकी दूसरे प्रकार की हार होगी। अर्जुन द्वारा व्यक्त इस प्रकार के ये विचार सिद्ध करते हैं कि वह न केवल भगवान् का महान भक्त था, अपितु वह अत्यधिक प्रबुद्ध और अपने मन तथा इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखने वाला था। राज परिवार में जन्म लेकर भी भिक्षा द्वारा जीवित रहने की इच्छा उसकी विरक्ति का दूसरा लक्षण है। ये सारे गुण तथा अपने आध्यात्मिक गुरु श्रीकृष्ण के उपदेशों में उसकी श्रद्धा, ये सब मिलकर सूचित करते हैं कि वह सचमुच पुण्यात्मा था। इस तरह यह निष्कर्ष निकला कि अर्जुन मुक्ति के सर्वथा योग्य था। जब तक इन्द्रियाँ संयमित न हों, ज्ञान के पद तक उठ पाना कठिन है और बिना ज्ञान तथा भक्ति के मुक्ति नहीं होती। अर्जुन अपने भौतिक गुणों के अतिरिक्त इन समस्त दैवी गुणों में भी दक्ष था।

ॐ ॐ ॐ

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

कार्पण्य—कृपणता; दोष—दुर्बलता से; उपहत—ग्रस्त; स्व-भावः—गुण, विशेषताएँ; पृच्छामि—पूछ रहा हूँ; त्वाम्—तुम से; धर्म—धर्म; सम्मूढ—मोहग्रस्त; चेताः—हृदय में; यत्—जो; श्रेयः—कल्याणकारी; स्यात्—हो; निश्चितम्—विश्वासपूर्वक; ब्रूहि—कहो; तत्—वह; मे—मुझको; शिष्यः—शिष्य; ते—तुम्हारा; अहम्—मैं; शाधि—उपदेश दीजिये; माम्—मुझको; त्वाम्—तुम्हारा; प्रपन्नम्—शरणागत।

अब मैं अपनी कृपण-दुर्बलता के कारण अपना कर्तव्य भूल गया हूँ और सारा धैर्य खो चुका हूँ। ऐसी अवस्था में मैं आपसे पूछ रहा हूँ कि जो मेरे लिए श्रेयस्कर हो उसे निश्चित रूप से

**बताएँ। अब मैं आपका शिष्य हूँ और आपका शरणागत हूँ।
कृपया मुझे उपदेश दें।**

तात्पर्य

यह प्राकृतिक नियम है कि भौतिक कार्यकलाप की प्रणाली ही हर एक के लिए चिन्ता का कारण है। पग-पग पर उलझन मिलती है, अतः प्रामाणिक गुरु के पास जाना आवश्यक है, जो जीवन के उद्देश्य को पूरा करने के लिए समुचित पथ-निर्देश दे सके। समग्र वैदिक ग्रंथ हमें यह उपदेश देते हैं कि जीवन की अनचाही उलझनों से मुक्त होने के लिए प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए। ये उलझनें उस दावाग्नि के समान हैं जो किसी के द्वारा लगाये बिना भभक उठती हैं। इसी प्रकार विश्व की स्थिति ऐसी है कि बिना चाहे जीवन की उलझनें स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं। कोई नहीं चाहता कि आग लगे, किन्तु फिर भी वह लगती है और हम अत्यधिक व्याकुल हो उठते हैं। अतः वैदिक वाङ्मय उपदेश देता है कि जीवन की उलझनों को समझने तथा उनका समाधान करने के लिए हमें परम्परागत गुरु के पास जाना चाहिए। जिस व्यक्ति का प्रामाणिक गुरु होता है वह सब कुछ जानता है। अतः मनुष्य को भौतिक उलझनों में न रहकर गुरु के पास जाना चाहिए। यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

आखिर भौतिक उलझनों में कौन सा व्यक्ति पड़ता है? वह जो जीवन की समस्याओं को नहीं समझता। *बृहदारण्यक उपनिषद्* में (३.८.१०) व्याकुल (व्यग्र) मनुष्य का वर्णन इस प्रकार हुआ है—*यो वा एतदक्षरं गार्गीविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः*—“*कृपण* वह है जो मानव जीवन की समस्याओं को हल नहीं करता और आत्म-साक्षात्कार के विज्ञान को समझे बिना कूकर-सूकर की भाँति इस संसार को त्यागकर चला जाता है।” जीव के लिए यह मनुष्य जीवन अत्यन्त मूल्यवान् निधि है, जिसका उपयोग वह अपने जीवन की समस्याओं को हल करने में कर सकता है, अतः जो इस अवसर का लाभ नहीं उठाता वह *कृपण* है। *ब्राह्मण* इसके विपरीत होता है जो इस शरीर का उपयोग जीवन की समस्त समस्याओं को हल करने में करता है। *य एतदक्षरं गार्गी विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः*। देहात्मबुद्धि वश *कृपण* या कंजूस लोग अपना सारा समय

परिवार, समाज, देश आदि के अत्यधिक प्रेम में गँवा देते हैं। मनुष्य प्रायः चर्मरोग के आधार पर अपने पारिवारिक जीवन अर्थात् पत्नी, बच्चों तथा परिजनों में आसक्त रहता है। कृपण यह सोचता है कि वह अपने परिवार को मृत्यु से बचा सकता है अथवा वह यह सोचता है कि उसका परिवार या समाज उसे मृत्यु से बचा सकता है। ऐसी पारिवारिक आसक्ति निम्न पशुओं में भी पाई जाती है क्योंकि वे भी बच्चों की देखभाल करते हैं। बुद्धिमान् होने के कारण अर्जुन समझ गया था कि पारिवारिक सदस्यों के प्रति उसका अनुराग तथा मृत्यु से उनकी रक्षा करने की उसकी इच्छा ही उसकी उलझनों का कारण है। यद्यपि वह समझ रहा था कि युद्ध करने का कर्तव्य उसकी प्रतीक्षा कर रहा था, किन्तु कृपण—दुर्बलता (कार्पण्यदोष) के कारण वह अपना कर्तव्य नहीं निभा रहा था। अतः वह परम गुरु भगवान् कृष्ण से कोई निश्चित हल निकालने का अनुरोध कर रहा है। वह कृष्ण का शिष्यत्व ग्रहण करता है। वह मित्रतापूर्ण बातें बन्द करना चाहता है। गुरु तथा शिष्य की बातें गम्भीर होती हैं और अब अर्जुन अपने मान्य गुरु के समक्ष गम्भीरतापूर्वक बातें करना चाहता है। इसीलिए कृष्ण भगवद्गीता-ज्ञान के आदि गुरु हैं और अर्जुन गीता समझने वाला प्रथम शिष्य है। अर्जुन भगवद्गीता को किस तरह समझता है यह गीता में वर्णित है। तो भी मूर्ख संसारी विद्वान् बताते हैं कि किसी को मनुष्य-रूप कृष्ण की नहीं बल्कि “अजन्मा कृष्ण” की शरण ग्रहण करनी चाहिए। कृष्ण के अन्तः तथा बाह्य में कोई अन्तर नहीं है। इस ज्ञान के बिना जो भगवद्गीता को समझने का प्रयास करता है, वह सबसे बड़ा मूर्ख है।

ॐ ॐ ॐ
 न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
 यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
 राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; प्रपश्यामि—देखता हूँ; मम—मेरा; अपनुद्यात्—दूर कर सके; यत्—जो; शोकम्—शोक; उच्छोषणम्—सुखाने वाला; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों का; अवाप्य—प्राप्त करके; भूमौ—पृथ्वी पर; असपत्नम्—शत्रुविहीन; ऋद्धम्—

समृद्ध; राज्यम्—राज्य; सुराणाम्—देवताओं का; अपि—चाहे; च—भी;
आधिपत्यम्—सर्वोच्चता।

मुझे ऐसा कोई साधन नहीं दिखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले इस शोक को दूर कर सके। स्वर्ग पर देवताओं के आधिपत्य की तरह इस धनधान्य-सम्पन्न सारी पृथ्वी पर निष्कण्टक राज्य प्राप्त करके भी मैं इस शोक को दूर नहीं कर सकूँगा।

तात्पर्य

यद्यपि अर्जुन धर्म तथा सदाचार के नियमों पर आधारित अनेक तर्क प्रस्तुत करता है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने गुरु भगवान् श्रीकृष्ण की सहायता के बिना अपनी असली समस्या को हल नहीं कर पा रहा। वह समझ गया था कि उसका तथाकथित ज्ञान उसकी उन समस्याओं को दूर करने में व्यर्थ है जो उसके सारे अस्तित्व (शरीर) को सुखाये दे रही थीं। उसे इन उलझनों को भगवान् कृष्ण जैसे आध्यात्मिक गुरु की सहायता के बिना हल कर पाना असम्भव लग रहा था। शैक्षिक ज्ञान, विद्वत्ता, उच्च पद—ये सब जीवन की समस्याओं का हल करने में व्यर्थ हैं। यदि कोई इसमें सहायता कर सकता है, तो वह है एकमात्र गुरु। अतः निष्कर्ष यह निकला कि गुरु जो शत-प्रतिशत कृष्णभावनाभावित होता है, वही एकमात्र प्रामाणिक गुरु है और वही जीवन की समस्याओं को हल कर सकता है। भगवान् चैतन्य ने कहा है कि जो कृष्णभावनामृत के विज्ञान में दक्ष हो, कृष्णतत्त्ववेत्ता हो, चाहे वह जिस किसी जाति का हो, वही वास्तविक गुरु है—

किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केने नय ।

येइ कृष्णतत्त्ववेत्ता, सेइ 'गुरु' हय ॥

“कोई व्यक्ति चाहे वह विप्र (वैदिक ज्ञान में दक्ष) हो, निम्न जाति में जन्मा शूद्र हो या कि संन्यासी, यदि वह कृष्ण के विज्ञान में दक्ष (कृष्णतत्त्ववेत्ता) है तो वह यथार्थ प्रामाणिक गुरु है।” (चैतन्य-चरितामृत, मध्य ८.१२८)। अतः कृष्णतत्त्ववेत्ता हुए बिना कोई भी प्रामाणिक गुरु नहीं हो सकता। वैदिक साहित्य में भी कहा गया है—

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः ।

अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः ॥

“विद्वान् ब्राह्मण, भले ही वह सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान में पारंगत क्यों न हो, यदि वह वैष्णव नहीं है या कृष्णभावनामृत में दक्ष नहीं है तो गुरु बनने का पात्र नहीं है। किन्तु शूद्र, यदि वह वैष्णव या कृष्णभक्त है तो गुरु बन सकता है।” (*पद्मपुराण*) संसार की समस्याओं—जन्म, जरा, व्याधि तथा मृत्यु—की निवृत्ति धन-संचय तथा आर्थिक विकास से सम्भव नहीं है। विश्व के विभिन्न भागों में ऐसे राज्य हैं जो जीवन की सारी सुविधाओं से तथा सम्पत्ति एवं आर्थिक विकास से पूरित हैं, किन्तु फिर भी उनके सांसारिक जीवन की समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। वे विभिन्न साधनों से शान्ति खोजते हैं, किन्तु वास्तविक सुख उन्हें तभी मिल पाता है जब वे कृष्णभावनामृत से युक्त कृष्ण के प्रामाणिक प्रतिनिधि के माध्यम से कृष्ण अथवा कृष्णतत्त्वपूरक *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के परामर्श को ग्रहण करते हैं।

यदि आर्थिक विकास तथा भौतिक सुख किसी के पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय अव्यवस्था से उत्पन्न हुए शोकों को दूर कर पाते, तो अर्जुन यह न कहता कि पृथ्वी का अप्रतिम राज्य या स्वर्गलोक में देवताओं की सर्वोच्चता भी उसके शोकों को दूर नहीं कर सकती। इसीलिए उसने कृष्णभावनामृत का ही आश्रय ग्रहण किया और यही शान्ति तथा समरसता का उचित मार्ग है। आर्थिक विकास या विश्व आधिपत्य प्राकृतिक प्रलय द्वारा किसी भी क्षण समाप्त हो सकता है। यहाँ तक कि चन्द्रलोक जैसे उच्च लोकों की यात्रा भी, जिसके लिए मनुष्य प्रयत्नशील हैं, एक झटके में समाप्त हो सकती है। *भगवद्गीता* इसकी पुष्टि करती है—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*— जब पुण्यकर्मों के फल समाप्त हो जाते हैं तो मनुष्य सुख के शिखर से जीवन के निम्नतम स्तर पर गिर जाता है। इस तरह से विश्व के अनेक राजनीतिज्ञों का पतन हुआ है। ऐसा अधःपतन शोक का कारण बनता है।

अतः यदि हम सदा के लिए शोक का निवारण चाहते हैं तो हमें कृष्ण की शरण ग्रहण करनी होगी, जिस तरह अर्जुन ने की। अर्जुन ने कृष्ण से

प्रार्थना की कि वे उसकी समस्या का निश्चित समाधान कर दें और यही कृष्णभावनामृत की विधि है।

❧ ❧ ❧

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः ।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; हृषीकेशम्—कृष्ण से, जो इन्द्रियों के स्वामी हैं; गुडाकेशः—अर्जुन, जो अज्ञान को मिटाने वाला है; परन्तपः—अर्जुन, शत्रुओं का दमन करने वाला; न योत्स्ये—नहीं लड़ूँगा; इति—इस प्रकार; गोविन्दम्—इन्द्रियों के आनन्ददायक कृष्ण से; उक्त्वा—कहकर; तूष्णीम्—चुप; बभूव—हो गया; ह—निश्चय ही।

संजय ने कहा—इस प्रकार कहने के बाद शत्रुओं का दमन करने वाला अर्जुन कृष्ण से बोला, “हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा,” और चुप हो गया।

तात्पर्य

धृतराष्ट्र को यह जानकर परम प्रसन्नता हुई होगी कि अर्जुन युद्ध न करके युद्धभूमि छोड़कर भिक्षाटन करने जा रहा है। किन्तु संजय ने उसे पुनः यह कह कर निराश कर दिया कि अर्जुन अपने शत्रुओं को मारने में सक्षम है (परन्तपः)। यद्यपि कुछ समय के लिए अर्जुन अपने पारिवारिक स्नेह के प्रति मिथ्या शोक से अभिभूत था, किन्तु उसने शिष्य रूप में अपने गुरु श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण कर ली। इससे सूचित होता है कि शीघ्र ही वह इस शोक से निवृत्त हो जायेगा और आत्म-साक्षात्कार या कृष्णभावनामृत के पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित होकर पुनः युद्ध करेगा। इस तरह धृतराष्ट्र का हर्ष भंग हो जायेगा।

❧ ❧ ❧

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तम्—उससे; उवाच—कहा; हृषीकेशः—इन्द्रियों के स्वामी कृष्ण ने; प्रहसन्—हँसते हुए; इव—मानो; भारत—हे भरतवंशी धृतराष्ट्र; सेनयोः—सेनाओं के; उभयोः—दोनों

पक्षों की; मध्ये—बीच में; विषीदन्तम्—शोकमग्न; इदम्—यह (निम्नलिखित) ;
वचः—शब्द ।

हे भरतवंशी (धृतराष्ट्र) ! उस समय दोनों सेनाओं के मध्य
शोकमग्न अर्जुन से कृष्ण ने मानो हँसते हुए ये शब्द कहे ।

तात्पर्य

दो घनिष्ठ मित्रों अर्थात् हृषीकेश तथा गुडाकेश के मध्य वार्ता चल रही थी ।
मित्र के रूप में दोनों का पद समान था, किन्तु इनमें से एक स्वेच्छा से
दूसरे का शिष्य बन गया । कृष्ण हँस रहे थे क्योंकि उनका मित्र अब उनका
शिष्य बन गया था । सबों के स्वामी होने के कारण वे सदैव श्रेष्ठ पद पर
रहते हैं तो भी भगवान् अपने भक्त के लिए सखा, पुत्र या प्रेमी बनना
स्वीकार करते हैं । किन्तु जब उन्हें गुरु रूप में अंगीकार कर लिया गया तो
उन्होंने तुरन्त गुरु की भूमिका निभाने के लिए शिष्य से गुरु की भाँति
गम्भीरतापूर्वक बातें कीं जैसा कि अपेक्षित है । ऐसा प्रतीत होता है कि गुरु
तथा शिष्य की यह वार्ता दोनों सेनाओं की उपस्थिति में हुई जिससे सारे
लोग लाभान्वित हुए । अतः *भगवद्गीता* का संवाद किसी एक व्यक्ति,
समाज या जाति के लिए नहीं अपितु सबों के लिए है और उसे सुनने के
लिए शत्रु या मित्र समान रूप से अधिकारी हैं ।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; अशोच्यान्—जो शोक के योग्य नहीं हैं;
अन्वशोचः—शोक करते हो; त्वम्—तुम; प्रज्ञा-वादान्—पाण्डित्यपूर्ण बातें; च—भी;
भाषसे—कहते हो; गत—चले गये, रहित; असून्—प्राण; अगत—नहीं गये; असून्—
प्राण; च—भी; न—कभी नहीं; अनुशोचन्ति—शोक करते हैं; पण्डिताः—विद्वान्
लोग ।

श्री भगवान् ने कहा—तुम पाण्डित्यपूर्ण वचन कहते हुए
उनके लिए शोक कर रहे हो जो शोक करने योग्य नहीं हैं । जो

विद्वान् होते हैं, वे न तो जीवित के लिए, न ही मृत के लिए शोक करते हैं।

तात्पर्य

भगवान् ने तत्काल गुरु का पद सँभाला और अपने शिष्य को अप्रत्यक्षतः मूर्ख कह कर डाँटा। उन्होंने कहा, “तुम विद्वान् की तरह बातें करते हो, किन्तु तुम यह नहीं जानते कि जो विद्वान् होता है—अर्थात् जो यह जानता है कि शरीर तथा आत्मा क्या हैं—वह किसी भी अवस्था में शरीर के लिए, चाहे वह जीवित हो या मृत—शोक नहीं करता।” अगले अध्यायों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि ज्ञान का अर्थ पदार्थ तथा आत्मा एवं इन दोनों के नियामक को जानना है। अर्जुन का तर्क था कि राजनीति या समाजनीति की अपेक्षा धर्म को अधिक महत्त्व मिलना चाहिए, किन्तु उसे यह ज्ञात न था कि पदार्थ, आत्मा तथा परमेश्वर का ज्ञान धार्मिक सूत्रों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। और चूँकि उसमें इस ज्ञान का अभाव था, अतः उसे विद्वान् नहीं बनना चाहिए था। और चूँकि वह अत्यधिक विद्वान् नहीं था इसलिए वह शोक के सर्वथा अयोग्य वस्तु के लिए शोक कर रहा था। यह शरीर जन्मता है और आज या कल इसका विनाश निश्चित है, अतः शरीर उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि आत्मा है। जो इस तथ्य को जानता है वही असली विद्वान् है और उसके लिए शोक का कोई कारण नहीं हो सकता।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तु—लेकिन; एव—निश्चय ही; अहम्—मैं; जातु—किसी काल में; न—नहीं; आसम्—था; न—नहीं; त्वम्—तुम; न—नहीं; इमे—ये सब; जन-अधिपाः—राजागण; न—कभी नहीं; च—भी; एव—निश्चय ही; न—नहीं; भविष्यामः—रहेंगे; सर्वे वयम्—हम सब; अतः परम्—इससे आगे।

ऐसा कभी नहीं हुआ कि मैं न रहा होऊँ या तुम न रहे हो अथवा ये समस्त राजा न रहे हों; और न ऐसा है कि भविष्य में हम लोग नहीं रहेंगे।

तात्पर्य

वेदों में, कठोपनिषद् में तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा गया है कि जो श्रीभगवान् असंख्य जीवों के कर्म तथा कर्मफल के अनुसार उनकी अपनी-अपनी परिस्थितियों में पालक हैं, वही भगवान् अंश रूप में हर जीव के हृदय में वास कर रहे हैं। केवल साधु पुरुष, जो एक ही ईश्वर को भीतर-बाहर देख सकते हैं, पूर्ण एवं शाश्वत शान्ति प्राप्त कर पाते हैं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

(कठोपनिषद् २.२.१३) जो वैदिक ज्ञान अर्जुन को प्रदान किया गया वही विश्व के उन समस्त पुरुषों को प्रदान किया जाता है जो विद्वान् होने का दावा तो करते हैं किन्तु जिनकी ज्ञानराशि न्यून है। भगवान् यह स्पष्ट कहते हैं कि वे स्वयं, अर्जुन तथा युद्धभूमि में एकत्र सारे राजा शाश्वत प्राणी हैं और इन जीवों की बद्ध तथा मुक्त अवस्थाओं में भगवान् ही एकमात्र उनके पालक हैं। भगवान् परम पुरुष हैं तथा भगवान् का चिर संगी अर्जुन एवं वहाँ पर एकत्र सारे राजागण शाश्वत पुरुष हैं। ऐसा नहीं है कि ये भूतकाल में प्राणियों के रूप में अलग-अलग उपस्थित नहीं थे और ऐसा भी नहीं है कि ये शाश्वत पुरुष बने नहीं रहेंगे। उनका अस्तित्व भूतकाल में था और भविष्य में भी निर्बाध रूप से बना रहेगा। अतः किसी के लिए शोक करने की कोई बात नहीं है।

यह मायावादी सिद्धान्त कि मुक्ति के बाद आत्मा माया के आवरण से पृथक् होकर निराकार ब्रह्म में लीन हो जायेगा और अपना अस्तित्व खो देगा यहाँ पर परम अधिकारी भगवान् कृष्ण द्वारा पुष्ट नहीं हो पाता। न ही इस सिद्धान्त का समर्थन हो पाता है कि बद्ध अवस्था में ही हम अस्तित्व का चिन्तन करते हैं। यहाँ पर कृष्ण स्पष्टतः कहते हैं कि भगवान् तथा अन्यो का अस्तित्व भविष्य में भी अक्षुण्ण रहेगा जिसकी पुष्टि उपनिषदों द्वारा भी होती है। कृष्ण का यह कथन प्रामाणिक है क्योंकि कृष्ण मायावश्य नहीं हैं। यदि अस्तित्व तथ्य न होता तो फिर कृष्ण इतना बल क्यों देते और वह भी भविष्य के लिए! मायावादी यह तर्क कर सकते हैं कि कृष्ण द्वारा कथित अस्तित्व आध्यात्मिक न होकर भौतिक है। यदि हम

इस तर्क को, कि अस्तित्व भौतिक होता है, स्वीकार कर भी लें तो फिर कोई कृष्ण के अस्तित्व को किस प्रकार पहचानेगा? कृष्ण भूतकाल में भी अपने अस्तित्व की पुष्टि करते हैं और भविष्य में भी अपने अस्तित्व की पुष्टि करते हैं। उन्होंने अपने अस्तित्व की पुष्टि कई प्रकार से की है और निराकार ब्रह्म उनके अधीन घोषित किया जा चुका है। कृष्ण सदा सर्वदा अपना अस्तित्व बनाये रहे हैं; यदि उन्हें सामान्य चेतना वाले सामान्य व्यक्ति के रूप में माना जाता है तो प्रामाणिक शास्त्र के रूप में उनकी *भगवद्गीता* की कोई महत्ता नहीं होगी। एक सामान्य व्यक्ति मनुष्यों के चार अवगुणों के कारण श्रवण करने योग्य शिक्षा देने में असमर्थ रहता है। *गीता* ऐसे साहित्य से ऊपर है। कोई भी संसारी ग्रंथ *गीता* की तुलना नहीं कर सकता। श्रीकृष्ण को सामान्य व्यक्ति मान लेने पर *गीता* की सारी महत्ता जाती रहती है। मायावादियों का तर्क है कि इस श्लोक में वर्णित द्वैत लौकिक है और शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। किन्तु इसके पहले वाले श्लोक में ऐसी देहात्मबुद्धि की निन्दा की गई है। एक बार जीवों की देहात्मबुद्धि की निन्दा करने के बाद यह कैसे सम्भव है कि कृष्ण पुनः शरीर पर उसी वक्तव्य को दुहराते? अतः यह अस्तित्व आध्यात्मिक आधार पर स्थापित है और इसकी पुष्टि रामानुजाचार्य तथा अन्य आचार्यों ने भी की है। *गीता* में कई स्थलों पर इसका उल्लेख है कि यह आध्यात्मिक अस्तित्व केवल भगवद्भक्तों द्वारा ज्ञेय है। जो लोग भगवान् कृष्ण का विरोध करते हैं उनकी इस महान साहित्य तक पहुँच नहीं हो पाती। अभक्तों द्वारा *गीता* के उपदेशों को समझने का प्रयास मधुमक्खी द्वारा मधुपात्र चाटने के सदृश है। पात्र को खोले बिना मधु को नहीं चखा जा सकता। इसी प्रकार *भगवद्गीता* के रहस्यवाद को केवल भक्त ही समझ सकते हैं, अन्य कोई नहीं, जैसा कि इसके चतुर्थ अध्याय में कहा गया है। न ही *गीता* का स्पर्श ऐसे लोग कर पाते हैं जो भगवान् के अस्तित्व का ही विरोध करते हैं। अतः मायावादियों द्वारा *गीता* की व्याख्या मानो समग्र सत्य का सरासर भ्रामक निरूपण है। भगवान् चैतन्य ने मायावादियों द्वारा की गई *गीता* की व्याख्याओं को पढ़ने का निषेध किया है और चेतावनी दी है कि जो कोई ऐसे मायावादी दर्शन को ग्रहण करता है वह *गीता* के वास्तविक

रहस्य को समझ पाने में असमर्थ रहता है। यदि अस्तित्व का अभिप्राय अनुभवगम्य ब्रह्माण्ड से है तो भगवान् द्वारा उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। आत्मा तथा परमात्मा का द्वैत शाश्वत तथ्य है और इसकी पुष्टि वेदों द्वारा होती है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

देहिनः—शरीरधारी की; अस्मिन्—इसमें; यथा—जिस प्रकार; देहे—शरीर में; कौमारम्—बाल्यावस्था; यौवनम्—यौवन, तारुण्य; जरा—वृद्धावस्था; तथा—उसी प्रकार; देह-अन्तर—शरीर के स्थानान्तरण की; प्राप्तिः—उपलब्धि; धीरः—धीर व्यक्ति; तत्र—उस विषय में; न—कभी नहीं; मुह्यति—मोह को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार शरीरधारी आत्मा इस (वर्तमान) शरीर में बाल्यावस्था से तरुणावस्था में और फिर वृद्धावस्था में निरन्तर अग्रसर होता रहता है, उसी प्रकार मृत्यु होने पर आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है। धीर व्यक्ति ऐसे परिवर्तन से मोह को प्राप्त नहीं होता।

तात्पर्य

प्रत्येक जीव एक व्यष्टि आत्मा है। वह प्रतिक्षण अपना शरीर बदलता रहता है—कभी बालक के रूप में, कभी युवा तथा कभी वृद्ध पुरुष के रूप में। तो भी आत्मा वही रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। यह व्यष्टि आत्मा मृत्यु होने पर अन्ततोगत्वा एक शरीर बदल कर दूसरे शरीर में देहान्तरण कर जाता है और चूँकि अगले जन्म में इसको शरीर मिलना अवश्यम्भावी है—चाहे वह शरीर आध्यात्मिक हो या भौतिक—अतः अर्जुन के लिए न तो भीष्म, न ही द्रोण के लिए शोक करने का कोई कारण था। अपितु उसे प्रसन्न होना चाहिए था कि वे अपने पुराने शरीरों को बदल कर नये शरीर ग्रहण करेंगे और इस तरह वे नई शक्ति प्राप्त करेंगे। ऐसे शरीर-परिवर्तन से जीवन में किये कर्म के अनुसार नाना प्रकार के सुखोपभोग या कष्टों का लेखा हो जाता है। चूँकि भीष्म व द्रोण साधु पुरुष थे इसलिए अगले जन्म में उन्हें आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होंगे; नहीं तो कम से कम उन्हें स्वर्ग में भोग करने के अनुरूप शरीर तो प्राप्त होंगे ही, अतः दोनों ही दशाओं में शोक का कोई कारण नहीं था।

जिस मनुष्य को व्यष्टि आत्मा, परमात्मा तथा भौतिक और आध्यात्मिक प्रकृति का पूर्ण ज्ञान होता है वह धीर कहलाता है। ऐसा मनुष्य कभी भी शरीर-परिवर्तन द्वारा ठगा नहीं जाता।

आत्मा के एकात्मवाद का मायावादी सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा के इस प्रकार विखण्डन से परमेश्वर विखंडनीय या परिवर्तनशील हो जायेगा जो परमात्मा के अपरिवर्तनीय होने के सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। गीता में पुष्टि हुई है कि परमात्मा के खण्डों का शाश्वत (सनातन) अस्तित्व है जिन्हें क्षर कहा जाता है अर्थात् उनमें भौतिक प्रकृति में गिरने की प्रवृत्ति होती है। ये भिन्न अंश (खण्ड) नित्य भिन्न रहते हैं, यहाँ तक कि मुक्ति के बाद भी व्यष्टि आत्मा जैसे का तैसा—भिन्न अंश—बना रहता है। किन्तु एक बार मुक्त होने पर वह श्रीभगवान् के साथ सच्चिदानन्द रूप में रहता है। परमात्मा पर प्रतिबिम्बवाद का सिद्धान्त व्यवहृत किया जा सकता है, जो प्रत्येक शरीर में विद्यमान रहता है। वह व्यष्टि जीव से भिन्न होता है। जब आकाश का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है तो प्रतिबिम्ब में सूर्य, चन्द्र तथा तारे सभी कुछ रहते हैं। तारों की तुलना जीवों से तथा सूर्य या चन्द्र की परमेश्वर से की जा सकती है। व्यष्टि अंश आत्मा को अर्जुन के रूप में और परमात्मा को श्रीभगवान् के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। जैसा कि चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में स्पष्ट है, वे एक ही स्तर पर नहीं होते। यदि अर्जुन कृष्ण के समान स्तर पर हो और कृष्ण अर्जुन से श्रेष्ठतर न हों तो उनमें उपदेशक तथा उपदिष्ट का सम्बन्ध अर्थहीन होगा। यदि ये दोनों माया द्वारा मोहित होते हैं तो एक को उपदेशक तथा दूसरे को उपदिष्ट होने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसा उपदेश व्यर्थ होगा क्योंकि माया के चंगुल में रहकर कोई भी प्रामाणिक उपदेशक नहीं बन सकता। ऐसी परिस्थितियों में यह मान लिया जाता है कि भगवान् कृष्ण परमेश्वर हैं जो पद में माया द्वारा विस्मृत अर्जुन रूपी जीव से श्रेष्ठ हैं।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

मात्रा-स्पर्शाः—इन्द्रियविषय; तु—केवल; कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र; शीत—जाड़ा;
 उष्ण—ग्रीष्म; सुख—सुख; दुःख—तथा दुख; दाः—देने वाले; आगम—आना;
 अपायिनः—जाना; अनित्याः—क्षणिक; तान्—उनको; तितिक्षस्व—सहन करने का
 प्रयत्न करो; भारत—हे भरतवंशी।

हे कुन्तीपुत्र! सुख तथा दुख का क्षणिक उदय तथा कालक्रम में उनका अन्तर्धान होना सर्दी तथा गर्मी की ऋतुओं के आने जाने के समान है। हे भरतवंशी! वे इन्द्रियबोध से उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को चाहिए कि अविचल भाव से उनको सहन करना सीखे।

तात्पर्य

कर्तव्य-निर्वाह करते हुए मनुष्य को सुख तथा दुख के क्षणिक आने-जाने को सहन करने का अभ्यास करना चाहिए। वैदिक आदेशानुसार मनुष्य को माघ (जनवरी-फरवरी) के मास में भी प्रातःकाल स्नान करना चाहिए। उस समय अत्यधिक ठंड पड़ती है, किन्तु जो धार्मिक नियमों का पालन करने वाला है, वह स्नान करने में तनिक भी झिझकता नहीं। इसी प्रकार एक गृहिणी भीषण से भीषण गर्मी की ऋतु में (मई-जून के महीनों में) भोजन पकाने में हिचकती नहीं। जलवायु सम्बन्धी असुविधाएँ होते हुए भी मनुष्य को अपना कर्तव्य निभाना होता है। इसी प्रकार युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है अतः उसे अपने किसी मित्र या परिजन से भी युद्ध करना पड़े तो उसे अपने धर्म से विचलित नहीं होना चाहिए। मनुष्य को ज्ञान प्राप्त करने के लिए धर्म के विधि-विधान पालन करने होते हैं क्योंकि ज्ञान तथा भक्ति से ही मनुष्य अपने आपको माया के बंधन से छुड़ा सकता है।

अर्जुन को जिन दो नामों से सम्बोधित किया गया है, वे भी महत्त्वपूर्ण हैं। कौन्तेय कहकर सम्बोधित करने से यह प्रकट होता है कि वह अपनी माता की ओर (मातृकुल) से सम्बंधित है और भारत कहने से उसके पिता की ओर (पितृकुल) से सम्बन्ध प्रकट होता है। दोनों ओर से उसको महान विरासत प्राप्त है। महान विरासत प्राप्त होने के फलस्वरूप कर्तव्यनिर्वाह का उत्तरदायित्व आ पड़ता है, अतः अर्जुन युद्ध से विमुख नहीं हो सकता।

❧ ❧ ❧

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिस; हि—निश्चित रूप से; न—कभी नहीं; व्यथयन्ति—विचलित नहीं करते;
एते—ये सब; पुरुषम्—मनुष्य को; पुरुष-ऋषभ—हे पुरुष-श्रेष्ठ; सम—
अपरिवर्तनीय; दुःख—दुख में; सुखम्—तथा सुख में; धीरम्—धीर पुरुष; सः—वह;
अमृतत्वाय—मुक्ति के लिए; कल्पते—योग्य है।

हे पुरुषश्रेष्ठ (अर्जुन) ! जो पुरुष सुख तथा दुख में विचलित नहीं होता और इन दोनों में समभाव रहता है, वह निश्चित रूप से मुक्ति के योग्य है।

तात्पर्य

जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार की उच्च अवस्था प्राप्त करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ है और सुख तथा दुख के प्रहारों को समभाव से सह सकता है वह निश्चय ही मुक्ति के योग्य है। वर्णाश्रम-धर्म में चौथी अवस्था अर्थात् संन्यास आश्रम कष्टसाध्य अवस्था है। किन्तु जो अपने जीवन को सचमुच पूर्ण बनाना चाहता है वह समस्त कठिनाइयों के होते हुए भी संन्यास आश्रम अवश्य ग्रहण करता है। ये कठिनाइयाँ पारिवारिक सम्बन्ध-विच्छेद करने तथा पत्नी और सन्तान से सम्बन्ध तोड़ने के कारण उत्पन्न होती हैं। किन्तु यदि कोई इन कठिनाइयों को सह लेता है तो उसके आत्म-साक्षात्कार का पथ निष्कण्टक हो जाता है। अतः अर्जुन को क्षत्रिय-धर्म निर्वाह में दृढ़ रहने के लिए कहा जा रहा है, भले ही स्वजनों या अन्य प्रिय व्यक्तियों के साथ युद्ध करना कितना ही दुष्कर क्यों न हो। भगवान् चैतन्य ने चौबीस वर्ष की अवस्था में ही संन्यास ग्रहण कर लिया था यद्यपि उन पर आश्रित उनकी तरुण पत्नी तथा वृद्धा माँ की देखभाल करने वाला अन्य कोई न था। तो भी उच्चादर्श के लिए उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और अपने कर्तव्यपालन में स्थिर बने रहे। भवबन्धन से मुक्ति पाने का यही एकमात्र उपाय है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; असतः—असत् का; विद्यते—है; भावः—चिरस्थायित्व; न—कभी नहीं;
 अभावः—परिवर्तनशील गुण; विद्यते—है; सतः—शाश्वत का; उभयोः—दोनों का;
 अपि—ही; दृष्टः—देखा गया; अन्तः—निष्कर्ष; तु—निस्सन्देह; अनयोः—इनका;
 तत्त्व—सत्य के; दर्शिभिः—भविष्यद्रष्टा द्वारा।

तत्त्वदर्शियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि असत् (भौतिक शरीर) का तो कोई चिरस्थायित्व नहीं है, किन्तु सत् (आत्मा) अपरिवर्तित रहता है। उन्होंने इन दोनों की प्रकृति के अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है।

तात्पर्य

परिवर्तनशील शरीर का कोई स्थायित्व नहीं है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने भी यह स्वीकार किया है कि विभिन्न कोशिकाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा शरीर प्रतिक्षण बदलता रहता है। इस तरह शरीर में वृद्धि तथा वृद्धावस्था आती रहती है। किन्तु शरीर तथा मन में निरन्तर परिवर्तन होने पर भी आत्मा स्थायी रहता है। यही पदार्थ तथा आत्मा का अन्तर है। स्वभावतः शरीर नित्य परिवर्तनशील है और आत्मा शाश्वत है। तत्त्वदर्शियों ने, चाहे वे निर्विशेषवादी हों या सगुणवादी, इस निष्कर्ष की स्थापना की है। *विष्णु-पुराण* में (२.१२.३८) कहा गया है कि विष्णु तथा उनके धाम स्वयंप्रकाश से प्रकाशित हैं—(*ज्योतीषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः*)। *सत्* तथा *असत्* शब्द आत्मा तथा भौतिक पदार्थ के ही द्योतक हैं। सभी तत्त्वदर्शियों की यह स्थापना है।

यहीं से भगवान् द्वारा अज्ञान से मोहग्रस्त जीवों को उपदेश देने का शुभारम्भ होता है। अज्ञान को हटाने के लिए आराधक और आराध्य के बीच पुनः शाश्वत सम्बन्ध स्थापित करना होता है और फिर अंश-रूप जीवों तथा श्रीभगवान् के अन्तर को समझना होता है। कोई भी व्यक्ति आत्मा के अध्ययन द्वारा परमेश्वर के स्वभाव को समझ सकता है—आत्मा तथा परमात्मा का अन्तर अंश तथा पूर्ण के अन्तर के रूप में है। *वेदान्त-सूत्र* तथा *श्रीमद्भागवत* में परमेश्वर को समस्त उद्भवों (प्रकाश) का मूल माना गया है। ऐसे उद्भवों का अनुभव परा तथा अपरा प्राकृतिक-क्रमों द्वारा किया जाता है। जीव का सम्बन्ध परा प्रकृति से है, जैसा कि सातवें अध्याय से स्पष्ट होगा। यद्यपि शक्ति तथा शक्तिमान में कोई अन्तर नहीं है,

किन्तु शक्तिमान को परम माना जाता है और शक्ति या प्रकृति को गौण। अतः सारे जीव उसी तरह परमेश्वर के सदैव अधीन रहते हैं जिस तरह सेवक स्वामी के या शिष्य गुरु के अधीन रहता है। अज्ञानावस्था में ऐसे स्पष्ट ज्ञान को समझ पाना असम्भव है। अतः ऐसे अज्ञान को दूर करने के लिए सदा सर्वदा के लिए जीवों को प्रबुद्ध करने हेतु भगवान् *भगवद्गीता* का उपदेश देते हैं।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अविनाशि—नाशरहित; तु—लेकिन; तत्—उसे; विद्धि—जानो; येन—जिससे; सर्वम्—सम्पूर्ण शरीर; इदम्—यह; ततम्—परिव्याप्त; विनाशम्—नाश; अव्ययस्य—अविनाशी का; अस्य—इस; न कश्चित्—कोई भी नहीं; कर्तुम्—करने के लिए; अर्हति—समर्थ है।

जो सारे शरीर में व्याप्त है उसे ही तुम अविनाशी समझो। उस अव्यय आत्मा को नष्ट करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

तात्पर्य

इस श्लोक में सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त आत्मा की प्रकृति का अधिक स्पष्ट वर्णन हुआ है। सभी लोग समझते हैं कि जो सारे शरीर में व्याप्त है वह चेतना है। प्रत्येक व्यक्ति को शरीर में किसी अंश या पूरे भाग में सुख-दुख का अनुभव होता है। किन्तु चेतना की यह व्याप्ति किसी के शरीर तक ही सीमित रहती है। एक शरीर के सुख तथा दुख का बोध दूसरे शरीर को नहीं हो पाता। फलतः प्रत्येक शरीर में व्यष्टि आत्मा है और इस आत्मा की उपस्थिति का लक्षण व्यष्टि चेतना द्वारा परिलक्षित होता है। इस आत्मा को बाल के अग्रभाग के दस हजारवें भाग के तुल्य बताया जाता है। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (५.९) इसकी पुष्टि हुई है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

“यदि बाल के अग्रभाग को एक सौ भागों में विभाजित किया जाय और फिर इनमें से प्रत्येक भाग को एक सौ भागों में विभाजित किया जाय तो

इस तरह के प्रत्येक भाग की माप आत्मा का परिमाण है।” इसी प्रकार यही कथन निम्नलिखित श्लोक में मिलता है—

केशाग्रशतभागस्य शतांशः सादृशात्मकः ।

जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः ॥

“आत्मा के परमाणुओं के अनन्त कण हैं जो माप में बाल के अगले भाग (नोक) के दस हजारवें भाग के बराबर हैं।”

इस प्रकार आत्मा का प्रत्येक कण भौतिक परमाणुओं से भी छोटा है और ऐसे असंख्य कण हैं। यह अत्यन्त लघु आत्म-स्फुलिंग भौतिक शरीर का मूल आधार है और इस आत्म-स्फुलिंग का प्रभाव सारे शरीर में उसी तरह व्याप्त है जिस प्रकार किसी औषधि का प्रभाव व्याप्त रहता है। आत्मा की यह धारा (विद्युतधारा) सारे शरीर में चेतना के रूप में अनुभव की जाती है और यही आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है। सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी समझ सकता है कि यह भौतिक शरीर चेतनारहित होने पर मृतक हो जाता है और शरीर में इस चेतना को किसी भी भौतिक उपचार से वापस नहीं लाया जा सकता। अतः यह चेतना भौतिक संयोग के फलस्वरूप नहीं है, अपितु आत्मा के कारण है। *मुण्डक उपनिषद्* में (३.१.९) सूक्ष्म (परमाणविक) आत्मा की और अधिक विवेचना हुई है—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश ।

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥

“आत्मा आकार में अणु तुल्य है जिसे पूर्ण बुद्धि के द्वारा जाना जा सकता है। यह अणु-आत्मा पाँच प्रकार के प्राणों में तैर रहा है (*प्राण, अपान, व्यान, समान तथा उदान*) ; यह हृदय के भीतर स्थित है और देहधारी जीव के पूरे शरीर में अपने प्रभाव का विस्तार करता है। जब आत्मा को पाँच वायुओं के कल्मष से शुद्ध कर लिया जाता है तो इसका आध्यात्मिक प्रभाव प्रकट होता है।”

हठ-योग का प्रयोजन विविध आसनों द्वारा उन पाँच प्रकार के प्राणों को नियन्त्रित करना है जो आत्मा को घेरे हुए हैं। यह योग किसी भौतिक

लाभ के लिए नहीं, अपितु भौतिक आकाश के बन्धन से अणु-आत्मा की मुक्ति के लिए किया जाता है।

इस प्रकार अणु-आत्मा को सारे वैदिक साहित्य ने स्वीकारा है और प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति अपने व्यावहारिक अनुभव से इसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है। केवल मूर्ख व्यक्ति ही इस अणु-आत्मा को सर्वव्यापी *विष्णु-तत्त्व* के रूप में सोच सकता है।

अणु-आत्मा का प्रभाव पूरे शरीर में व्याप्त हो सकता है। *मुण्डक उपनिषद्* के अनुसार यह अणु-आत्मा प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित है और चूँकि भौतिक विज्ञानी इस अणु-आत्मा को माप सकने में असमर्थ हैं, अतः उनमें से कुछ यह अनुभव करते हैं कि आत्मा है ही नहीं। व्यष्टि आत्मा तो निस्सन्देह परमात्मा के साथ-साथ हृदय में है और इसीलिए शारीरिक गतियों की सारी शक्ति शरीर के इसी भाग से उद्भूत है। जो लाल रक्तकण फेफड़ों से आक्सीजन ले जाते हैं वे आत्मा से ही शक्ति प्राप्त करते हैं। अतः जब आत्मा इस स्थान से निकल जाता है तो रक्तोत्पादक संलयन (fusion) बन्द हो जाता है। औषधि विज्ञान लाल रक्तकणों की महत्ता को तो स्वीकार करता है, किन्तु वह यह निश्चित नहीं कर पाता कि शक्ति का स्रोत आत्मा है। जो भी हो, औषधि विज्ञान यह स्वीकार करता है कि शरीर की सारी शक्ति का उद्गमस्थल हृदय है।

पूर्ण आत्मा के ऐसे अणुकणों की तुलना सूर्य-प्रकाश के कणों से की जाती है। इस सूर्य-प्रकाश में असंख्य तेजोमय अणु होते हैं। इसी प्रकार परमेश्वर के अंश उनकी किरणों के परमाणु स्फुलिंग हैं और *प्रभा* या परा शक्ति कहलाते हैं। अतः चाहे कोई वैदिक ज्ञान का अनुगामी हो या आधुनिक विज्ञान का, वह शरीर में आत्मा के अस्तित्व को नकार नहीं सकता। भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* में आत्मा के इस विज्ञान का विशद वर्णन किया है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्बुध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अन्त-वन्तः—नाशवान; इमे—ये सब; देहाः—भौतिक शरीर; नित्यस्य—नित्य स्वरूप;
 उक्ताः—कहे जाते हैं; शरीरिणः—देहधारी जीव का; अनाशिनः—कभी नाश न होने
 वाला; अप्रमेयस्य—न मापा जा सकने योग्य; तस्मात्—अतः; युध्यस्व—युद्ध करो;
 भारत—हे भरतवंशी।

**अविनाशी, अप्रमेय तथा शाश्वत जीव के भौतिक शरीर का
 अन्त अवश्यम्भावी है। अतः हे भरतवंशी! युद्ध करो।**

तात्पर्य

भौतिक शरीर स्वभाव से नाशवान है। यह तत्क्षण नष्ट हो सकता है और सौ वर्ष बाद भी। यह केवल समय की बात है। इसे अनन्त काल तक बनाये रखने की कोई सम्भावना नहीं है। किन्तु आत्मा इतना सूक्ष्म है कि इसे शत्रु देख भी नहीं सकता, मारना तो दूर रहा। जैसा कि पिछले श्लोक में कहा गया है, यह इतना सूक्ष्म है कि कोई इसके मापने की बात सोच भी नहीं सकता। अतः दोनों ही दृष्टि से शोक का कोई कारण नहीं है क्योंकि जीव जिस रूप में है, न तो उसे मारा जा सकता है, न ही शरीर को कुछ समय तक या स्थायी रूप से बचाया जा सकता है। पूर्ण आत्मा के सूक्ष्म कण अपने कर्म के अनुसार ही यह शरीर धारण करते हैं, अतः धार्मिक नियमों का पालन करना चाहिए। वेदान्त-सूत्र में जीव को प्रकाश बताया गया है क्योंकि वह परम प्रकाश का अंश है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सारे ब्रह्माण्ड का पोषण करता है उसी प्रकार आत्मा के प्रकाश से इस भौतिक देह का पोषण होता है। जैसे ही आत्मा इस भौतिक शरीर से बाहर निकल जाता है, शरीर सड़ने लगता है, अतः आत्मा ही शरीर का पोषक है। शरीर अपने आप में महत्त्वहीन है। इसीलिए अर्जुन को उपदेश दिया गया कि वह युद्ध करे और भौतिक शारीरिक कारणों से धर्म की बलि न होने दे।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एनम्—इसको; वेत्ति—जानता है; हन्तारम्—मारने वाला; यः—जो; च—
 भी; एनम्—इसे; मन्यते—मानता है; हतम्—मरा हुआ; उभौ—दोनों; तौ—वे; न—
 कभी नहीं; विजानीतः—जानते हैं; न—कभी नहीं; अयम्—यह; हन्ति—मारता है;
 न—नहीं; हन्यते—मारा जाता है।

जो इस जीवात्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसे मरा हुआ समझता है, वे दोनों ही अज्ञानी हैं, क्योंकि आत्मा न तो मारता है और न मारा जाता है।

तात्पर्य

जब देहधारी जीव को किसी घातक हथियार से आघात पहुँचाया जाता है तो यह समझ लेना चाहिए कि शरीर के भीतर का जीवात्मा मरा नहीं। आत्मा इतना सूक्ष्म है कि इसे किसी तरह के भौतिक हथियार से मार पाना असम्भव है, जैसा कि अगले श्लोकों से स्पष्ट हो जायेगा। न ही जीवात्मा अपने आध्यात्मिक स्वरूप के कारण वध्य है। जिसे मारा जाता है या जिसे मरा हुआ समझा जाता है वह केवल शरीर होता है। किन्तु इसका तात्पर्य शरीर के वध को प्रोत्साहित करना नहीं है। वैदिक आदेश है—*मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि*—किसी भी जीव की हिंसा न करो। न ही 'जीवात्मा अवध्य है' का अर्थ यह है कि पशु-हिंसा को प्रोत्साहन दिया जाय। किसी भी जीव के शरीर की अनधिकार हत्या करना निन्द्य है और राज्य तथा भगवद्विधान के द्वारा दण्डनीय है। किन्तु अर्जुन को तो धर्म के नियमानुसार मारने के लिए नियुक्त किया जा रहा था, किसी पागलपनवश नहीं।

न जायते म्रियते वा कदाचि-

न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; जायते—जन्मता है; म्रियते—मरता है; वा—या; कदाचित्—कभी भी (भूत, वर्तमान या भविष्य); न—कभी नहीं; अयम्—यह; भूत्वा—होकर; भविता—होने वाला; वा—अथवा; न—नहीं; भूयः—अथवा, पुनः होने वाला है; अजः—अजन्मा; नित्यः—नित्य; शाश्वतः—स्थायी; अयम्—यह; पुराणः—सबसे प्राचीन; न—नहीं; हन्यते—मारा जाता है; हन्यमाने—मारा जाकर; शरीरे—शरीर में।

आत्मा के लिए किसी भी काल में न तो जन्म है न मृत्यु। वह न तो कभी जन्मा है, न जन्म लेता है और न जन्म लेगा। वह

अजन्मा, नित्य, शाश्वत तथा पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर वह मारा नहीं जाता।

तात्पर्य

गुणात्मक दृष्टि से, परमात्मा का अणु-अंश परम से अभिन्न है। वह शरीर की भाँति विकारी नहीं है। कभी-कभी आत्मा को स्थायी या कूटस्थ कहा जाता है। शरीर में छह प्रकार के रूपान्तर होते हैं। वह माता के गर्भ से जन्म लेता है, कुछ काल तक रहता है, बढ़ता है, कुछ परिणाम उत्पन्न करता है, धीरे-धीरे क्षीण होता है और अन्त में समाप्त हो जाता है। किन्तु आत्मा में ऐसे परिवर्तन नहीं होते। आत्मा अजन्मा है, किन्तु चूँकि वह भौतिक शरीर धारण करता है, अतः शरीर जन्म लेता है। आत्मा न तो जन्म लेता है, न मरता है। जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी होती है। और चूँकि आत्मा जन्म नहीं लेता, अतः उसका न तो भूत है, न वर्तमान या भविष्य। वह नित्य, शाश्वत तथा सनातन है—अर्थात् उसके जन्म लेने का कोई इतिहास नहीं है। हम शरीर के प्रभाव में आकर आत्मा के जन्म, मरण आदि का इतिहास खोजते हैं। आत्मा शरीर की तरह कभी भी वृद्ध नहीं होता, अतः तथाकथित वृद्ध पुरुष भी अपने में बाल्यकाल या युवावस्था जैसी अनुभूति पाता है। शरीर के परिवर्तनों का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आत्मा वृक्ष या किसी अन्य भौतिक वस्तु की तरह क्षीण नहीं होता। आत्मा की कोई उपसृष्टि नहीं होती। शरीर की उपसृष्टि संतानें हैं और वे भी व्यष्टि आत्माएँ हैं और शरीर के कारण वे किसी न किसी की सन्तानें प्रतीत होते हैं। शरीर की वृद्धि आत्मा की उपस्थिति के कारण होती है, किन्तु आत्मा के न तो कोई उपवृद्धि है न ही उसमें कोई परिवर्तन होता है। अतः आत्मा शरीर के छः प्रकार के परिवर्तन से मुक्त है।

कठोपनिषद् में (१.२.१८) इसी तरह का एक श्लोक आया है—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

इस श्लोक का अर्थ तथा तात्पर्य भगवद्गीता के श्लोक जैसा ही है, किन्तु इस श्लोक में एक विशिष्ट शब्द विपश्चित् का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है विद्वान् या ज्ञानमय।

आत्मा ज्ञान से या चेतना से सदैव पूर्ण रहता है। अतः चेतना ही आत्मा का लक्षण है। यदि कोई हृदयस्थ आत्मा को नहीं खोज पाता तब भी वह आत्मा की उपस्थिति को चेतना की उपस्थिति से जान सकता है। कभी-कभी हम बादलों या अन्य कारणों से आकाश में सूर्य को नहीं देख पाते, किन्तु सूर्य का प्रकाश सदैव विद्यमान रहता है, अतः हमें विश्वास हो जाता है कि यह दिन का समय है। प्रातःकाल ज्योंही आकाश में थोड़ा सा सूर्यप्रकाश दिखता है तो हम समझ जाते हैं कि सूर्य आकाश में है। इसी प्रकार चूँकि शरीरों में, चाहे पशु के हों या पुरुषों के, कुछ न कुछ चेतना रहती है, अतः हम आत्मा की उपस्थिति को जान लेते हैं। किन्तु जीव की यह चेतना परमेश्वर की चेतना से भिन्न है क्योंकि परम चेतना तो सर्वज्ञ है—भूत, वर्तमान तथा भविष्य के ज्ञान से पूर्ण। व्यष्टि जीव की चेतना विस्मरणशील है। जब वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है, तो उसे कृष्ण के उपदेशों से शिक्षा तथा प्रकाश और बोध प्राप्त होता है। किन्तु कृष्ण विस्मरणशील जीव नहीं हैं। यदि वे ऐसे होते तो उनके द्वारा दिये गये *भगवद्गीता* के उपदेश व्यर्थ होते।

आत्मा के दो प्रकार हैं—एक तो *अणु-आत्मा* और दूसरा *विभु-आत्मा*। *कठोपनिषद्* में (१.२.२०) इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥

“परमात्मा तथा अणु-आत्मा दोनों शरीर रूपी उसी वृक्ष में जीव के हृदय में विद्यमान हैं और इनमें से जो समस्त इच्छाओं तथा शोकों से मुक्त हो चुका है वही भगवत्कृपा से आत्मा की महिमा को समझ सकता है।” कृष्ण परमात्मा के भी उद्गम हैं जैसा कि अगले अध्यायों में बताया जायेगा और अर्जुन अणु-आत्मा के समान है जो अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया है। अतः उसे कृष्ण द्वारा या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि गुरु द्वारा प्रबुद्ध किये जाने की आवश्यकता है।

ॐ ॐ ॐ
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

वेद—जानता है; अविनाशिनम्—अविनाशी को; नित्यम्—शाश्वत; यः—जो; एनम्—
इस (आत्मा) ; अजम्—अजन्मा; अव्ययम्—निर्विकार; कथम्—कैसे; सः—वह;
पुरुषः—पुरुष; पार्थ—हे पार्थ (अर्जुन) ; कम्—किसको; घातयति—मरवाता है;
हन्ति—मारता है; कम्—किसको।

हे पार्थ! जो व्यक्ति यह जानता है कि आत्मा अविनाशी,
अजन्मा, शाश्वत तथा अव्यय है, वह भला किसी को कैसे
मार सकता है या मरवा सकता है?

तात्पर्य

प्रत्येक वस्तु की समुचित उपयोगिता होती है और जो ज्ञानी होता है वह जानता है कि किसी वस्तु का कहाँ और कैसे प्रयोग किया जाय। इसी प्रकार हिंसा की भी अपनी उपयोगिता है और इसका उपयोग इसे जानने वाले पर निर्भर करता है। यद्यपि हत्या करने वाले व्यक्ति को न्यायसंहिता के अनुसार प्राणदण्ड दिया जाता है, किन्तु न्यायाधीश को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है, क्योंकि वह न्यायसंहिता के अनुसार ही दूसरे व्यक्ति पर हिंसा किये जाने का आदेश देता है। मनुष्यों के विधि-ग्रंथ *मनुसंहिता* में इसका समर्थन किया गया है कि हत्यारे को प्राणदण्ड देना चाहिए जिससे उसे अगले जीवन में अपना पापकर्म भोगना न पड़े। अतः राजा द्वारा हत्यारे को फाँसी का दण्ड एक प्रकार से लाभप्रद है। इसी प्रकार जब कृष्ण युद्ध करने का आदेश देते हैं तो यह समझना चाहिए कि यह हिंसा परम न्याय के लिए है और इस तरह अर्जुन को इस आदेश का पालन यह समझकर करना चाहिए कि कृष्ण के लिए किया गया युद्ध हिंसा नहीं है क्योंकि मनुष्य या दूसरे शब्दों में आत्मा को मारा नहीं जा सकता। अतः न्याय के हेतु तथाकथित हिंसा की अनुमति है। शल्यक्रिया का प्रयोजन रोगी को मारना नहीं अपितु उसको स्वस्थ बनाना है। अतः कृष्ण के आदेश पर अर्जुन द्वारा किया जाने वाला युद्ध पूरे ज्ञान के साथ हो रहा है, उससे पापफल की सम्भावना नहीं है।

ॐ ॐ ॐ

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
 नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
 तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
 न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

वासांसि—वस्त्रों को; जीर्णानि—पुराने तथा फटे; यथा—जिस प्रकार; विहाय—त्याग कर; नवानि—नए वस्त्र; गृह्णाति—ग्रहण करता है; नरः—मनुष्य; अपराणि—अन्य; तथा—उसी प्रकार; शरीराणि—शरीरों को; विहाय—त्याग कर; जिर्णानि—वृद्ध तथा व्यर्थ; अन्यानि—भिन्न; संयाति—स्वीकार करता है; नवानि—नये; देही—देहधारी आत्मा ।

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने तथा व्यर्थ के शरीरों को त्याग कर नवीन भौतिक शरीर धारण करता है ।

तात्पर्य

अणु-आत्मा द्वारा शरीर का परिवर्तन एक स्वीकृत तथ्य है । आधुनिक विज्ञानीजन तक, जो आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते, पर साथ ही हृदय से शक्ति-साधन की व्याख्या भी नहीं कर पाते, उन परिवर्तनों को स्वीकार करने को बाध्य हैं, जो बाल्यकाल से कौमारावस्था और फिर तरुणावस्था तथा वृद्धावस्था में होते रहते हैं । वृद्धावस्था से यही परिवर्तन दूसरे शरीर में स्थानान्तरित हो जाता है । इसकी व्याख्या एक पिछले श्लोक में (२.१३) की जा चुकी है ।

अणु-आत्मा का दूसरे शरीर में स्थानान्तरण परमात्मा की कृपा से सम्भव हो पाता है । परमात्मा अणु-आत्मा की इच्छाओं की पूर्ति उसी तरह करते हैं जिस प्रकार एक मित्र दूसरे की इच्छापूर्ति करता है । मुण्डक तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों में आत्मा तथा परमात्मा की उपमा दो मित्र पक्षियों से दी गई है जो एक ही वृक्ष पर बैठे हैं । इनमें से एक पक्षी (अणु-आत्मा) वृक्ष के फल को खा रहा है और दूसरा पक्षी (कृष्ण) अपने मित्र को देख रहा है । यद्यपि दोनों पक्षी समान गुण वाले हैं, किन्तु इनमें से एक भौतिक वृक्ष के फलों पर मोहित है, किन्तु दूसरा अपने मित्र के कार्यकलापों का साक्षी मात्र है । कृष्ण साक्षी पक्षी हैं, और अर्जुन फल-भोक्ता पक्षी । यद्यपि

दोनों मित्र (सखा) हैं, किन्तु फिर भी एक स्वामी है और दूसरा सेवक है। अणु-आत्मा द्वारा इस सम्बन्ध की विस्मृति ही उसके एक वृक्ष से दूसरे पर जाने या एक शरीर से दूसरे में जाने का कारण है। जीव आत्मा प्राकृत शरीर रूपी वृक्ष पर अत्यधिक संघर्षशील है, किन्तु ज्योंही वह दूसरे पक्षी को परम गुरु के रूप में स्वीकार करता है—जिस प्रकार अर्जुन कृष्ण का उपदेश ग्रहण करने के लिए स्वेच्छा से उनकी शरण में जाता है—त्योंही परतन्त्र पक्षी तुरन्त सारे शोकों से विमुक्त हो जाता है। *मुण्डक-उपनिषद्* (३.१.२) तथा *श्वेताश्वतर-उपनिषद्* (४.७) समान रूप से इसकी पुष्टि करते हैं—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

“यद्यपि दोनों पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, किन्तु फल खाने वाला पक्षी वृक्ष के फल के भोक्ता रूप में चिन्ता तथा विषाद में निमग्न है। यदि किसी तरह वह अपने मित्र भगवान् की ओर उन्मुख होता है और उनकी महिमा को जान लेता है तो वह कष्ट भोगने वाला पक्षी तुरन्त समस्त चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है।” अब अर्जुन ने अपना मुख अपने शाश्वत मित्र कृष्ण की ओर फेरा है और उनसे *भगवद्गीता* समझ रहा है। इस प्रकार वह कृष्ण से श्रवण करके भगवान् की परम महिमा को समझ कर शोक से मुक्त हो सकता है।

यहाँ भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया है कि वह अपने पितामह तथा गुरु के देहान्तरण पर शोक प्रकट न करे अपितु उसे इस धर्मयुद्ध में उनके शरीरों का वध करने में प्रसन्न होना चाहिए, जिससे वे सब विभिन्न शारीरिक कर्म-फलों से तुरन्त मुक्त हो जायँ। बलिवेदी पर या धर्मयुद्ध में प्राणों को अर्पित करने वाला व्यक्ति तुरन्त शारीरिक पापों से मुक्त हो जाता है और उच्च लोक को प्राप्त होता है। अतः अर्जुन का शोक करना युक्तिसंगत नहीं है।

ॐ ॐ ॐ
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एनम्—इस आत्मा को; छिन्दन्ति—खण्ड-खण्ड कर सकते हैं;
 शस्त्राणि—हथियार; न—कभी नहीं; एनम्—इस आत्मा को; दहति—जला सकता है;
 पावकः—अग्नि; न—कभी नहीं; च—भी; एनम्—इस आत्मा को; क्लेदयन्ति—
 भिगो सकता है; आपः—जल; न—कभी नहीं; शोषयति—सुखा सकता है; मारुतः—
 वायु।

यह आत्मा न तो कभी किसी शस्त्र द्वारा खण्ड-खण्ड किया जा सकता है, न अग्नि द्वारा जलाया जा सकता है, न जल द्वारा भिगोया या वायु द्वारा सुखाया जा सकता है।

तात्पर्य

सारे हथियार—तलवार, आग्नेयास्त्र, वर्षा के अस्त्र, चक्रवात आदि आत्मा को मारने में असमर्थ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक आग्नेयास्त्रों के अतिरिक्त मिट्टी, जल, वायु, आकाश आदि के भी अनेक प्रकार के हथियार होते थे। यहाँ तक कि आधुनिक युग के नाभिकीय हथियारों की गणना भी आग्नेयास्त्रों में की जाती है, किन्तु पूर्वकाल में विभिन्न पार्थिव तत्त्वों से बने हुए हथियार होते थे। आग्नेयास्त्रों का सामना जल के (वरुण) हथियारों से किया जाता था, जो आधुनिक विज्ञान के लिए अज्ञात हैं। आधुनिक विज्ञान को चक्रवात हथियारों का भी पता नहीं है। जो भी हो, आत्मा को न तो कभी खण्ड-खण्ड किया जा सकता है, न किन्हीं वैज्ञानिक हथियारों से उसका संहार किया जा सकता है, चाहे उनकी संख्या कितनी ही क्यों न हो।

मायावादी इसकी व्याख्या नहीं कर सकते कि जीव किस प्रकार अपने अज्ञान के कारण उत्पन्न हुआ और तत्पश्चात् माया की शक्ति से आवृत हो गया। न ही आदि परमात्मा से जीवों को विलग कर पाना सम्भव था, प्रत्युत सारे जीव परमात्मा से विलग हुए अंश हैं। चूँकि वे *सनातन* अणु-आत्मा हैं, अतः माया द्वारा आवृत होने की उनकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है और इस तरह वे भगवान् की संगति से पृथक् हो जाते हैं, जिस प्रकार अग्नि के स्फुलिंग अग्नि से विलग होते ही बुझ जाते हैं, यद्यपि इन दोनों के गुण समान होते हैं। *वराह पुराण* में जीवों को परमात्मा का भिन्न अंश कहा गया है। *भगवद्गीता* के अनुसार भी वे शाश्वत रूप से ऐसे ही हैं। अतः मोह से मुक्त होकर भी जीव पृथक् अस्तित्व रखता है, जैसा कि

कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गये उपदेशों से स्पष्ट है। अर्जुन कृष्ण के उपदेश के कारण मुक्त तो हो गया, किन्तु कभी भी कृष्ण से एकाकार नहीं हुआ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अच्छेद्यः—न टूटने वाला; अयम्—यह आत्मा; अदाह्यः—न जलाया जा सकने वाला; अयम्—यह आत्मा; अक्लेद्यः—अघुलनशील; अशोष्यः—न सुखाया जा सकने वाला; एव—निश्चय ही; च—तथा; नित्यः—शाश्वत; सर्व-गतः—सर्वव्यापी; स्थाणुः—अपरिवर्तनीय, अविकारी; अचलः—जड़; अयम्—यह आत्मा; सनातनः—सदैव एक सा।

यह आत्मा अखंडित तथा अघुलनशील है। इसे न तो जलाया जा सकता है, न ही सुखाया जा सकता है। यह शाश्वत, सर्वव्यापी, अविकारी, स्थिर तथा सदैव एक सा रहने वाला है।

तात्पर्य

अणु-आत्मा के इतने सारे गुण यही सिद्ध करते हैं कि आत्मा पूर्ण आत्मा का अणु-अंश है और बिना किसी परिवर्तन के निरन्तर उसी तरह बना रहता है। इस प्रसंग में अद्वैतवाद को व्यवहृत करना कठिन है क्योंकि अणु-आत्मा कभी भी परम-आत्मा के साथ मिलकर एक नहीं हो सकता। भौतिक कल्मष से मुक्त होकर अणु-आत्मा भगवान् के तेज की किरणों की आध्यात्मिक स्फुलिंग बनकर रहना चाह सकता है, किन्तु बुद्धिमान जीव तो भगवान् की संगति करने के लिए वैकुण्ठलोक में प्रवेश करता है। सर्वगत शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें कोई संशय नहीं है कि जीव भगवान् की समग्र सृष्टि में फैले हुए हैं। वे जल, थल, वायु, पृथ्वी के भीतर तथा अग्नि के भीतर भी रहते हैं। जो यह मानते हैं कि वे अग्नि में स्वाहा हो जाते हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ कहा गया है कि आत्मा को अग्नि द्वारा जलाया नहीं जा सकता। अतः इसमें सन्देह नहीं कि सूर्यलोक में भी उपयुक्त प्राणी निवास करते हैं। यदि सूर्यलोक निर्जन हो तो सर्वगत शब्द निरर्थक हो जाता है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अव्यक्तः—अदृश्य; अयम्—यह आत्मा; अचिन्त्यः—अकल्पनीय; अयम्—यह आत्मा; अविकार्यः—अपरिवर्तित; अयम्—यह आत्मा; उच्यते—कहलाता है; तस्मात्—अतः; एवम्—इस प्रकार; विदित्वा—अच्छी तरह जानकर; एनम्—इस आत्मा के विषयमें; न—नहीं; अनुशोचितुम्—शोक करने के लिए; अर्हसि—योग्य हो।

यह आत्मा अव्यक्त, अकल्पनीय तथा अपरिवर्तनीय कहा जाता है। यह जानकर तुम्हें शरीर के लिए शोक नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आत्मा इतना सूक्ष्म है कि इसे सर्वाधिक शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी यंत्र से भी नहीं देखा जा सकता, अतः यह अदृश्य है। जहाँ तक आत्मा के अस्तित्व का सम्बन्ध है, श्रुति के प्रमाण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयोग द्वारा इसके अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। हमें इस सत्य को स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि अनुभवगम्य सत्य होते हुए भी आत्मा के अस्तित्व को समझने के लिए कोई अन्य साधन नहीं है। हमें अनेक बातें केवल उच्च प्रमाणों के आधार पर माननी पड़ती हैं। कोई भी अपनी माता के आधार पर अपने पिता के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकता। पिता के स्वरूप को जानने का साधन या एकमात्र प्रमाण माता है। इसी प्रकार वेदाध्ययन के अतिरिक्त आत्मा को समझने का अन्य उपाय नहीं है। दूसरे शब्दों में, आत्मा मानवीय व्यावहारिक ज्ञान द्वारा अकल्पनीय है। आत्मा चेतना है और चेतन है—वेदों के इस कथन को हमें स्वीकार करना होगा। आत्मा में शरीर जैसे परिवर्तन नहीं होते। मूलतः अविकारी रहते हुए आत्मा अनन्त परमात्मा की तुलना में अणु-रूप है। परमात्मा अनन्त है और अणु-आत्मा अति सूक्ष्म है। अतः अति सूक्ष्म आत्मा अविकारी होने के कारण अनन्त आत्मा भगवान् के तुल्य नहीं हो सकता। यही भाव वेदों में भिन्न-भिन्न प्रकार से आत्मा के

स्थायित्व की पुष्टि करने के लिए दुहराया गया है। किसी बात का दुहराना उस तथ्य को बिना किसी त्रुटि के समझने के लिए आवश्यक है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अथ—यदि, फिर भी; च—भी; एनम्—इस आत्मा को; नित्य-जातम्—उत्पन्न होने वाला; नित्यम्—सदैव के लिए; वा—अथवा; मन्यसे—तुम ऐसा सोचते हो; मृतम्—मृत; तथा अपि—फिर भी; त्वम्—तुम; महा-बाहो—हे शूरवीर; न—कभी नहीं; एनम्—आत्मा के विषय में; शोचितुम्—शोक करने के लिए; अर्हसि—योग्य हो।

किन्तु यदि तुम यह सोचते हो कि आत्मा (अथवा जीवन का लक्षण) सदा जन्म लेता है तथा सदा मरता है तो भी हे महाबाहु! तुम्हारे शोक करने का कोई कारण नहीं है।

तात्पर्य

सदा से दार्शनिकों का एक ऐसा वर्ग चला आ रहा है जो बौद्धों के ही समान यह नहीं मानता कि शरीर के परे भी आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* का उपदेश दिया तो ऐसे दार्शनिक विद्यमान थे और *लोकायतिक* तथा *वैभाषिक* नाम से जाने जाते थे। ऐसे दार्शनिकों का मत है कि जीवन के लक्षण भौतिक संयोग की एक परिपक्ववस्था में ही घटित होते हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञानी तथा भौतिकतावादी दार्शनिक भी ऐसा ही सोचते हैं। उनके अनुसार शरीर भौतिक तत्त्वों का संयोग है और एक अवस्था ऐसी आती है जब भौतिक तथा रासायनिक तत्त्वों के संयोग से जीवन के लक्षण विकसित हो उठते हैं। नृतत्त्व विज्ञान इसी दर्शन पर आधारित है। सम्प्रति, अनेक छद्म धर्म—जिनका अमेरिका में प्रचार हो रहा है—इसी दर्शन का पालन करते हैं और साथ ही शून्यवादी अभक्त बौद्धों का अनुसरण करते हैं।

यदि अर्जुन को आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं था, जैसा कि *वैभाषिक* दर्शन में होता है तो भी उसके शोक करने का कोई कारण न था। कोई भी मानव थोड़े से रसायनों की क्षति के लिए शोक नहीं करता तथा अपना कर्तव्यपालन नहीं त्याग देता है। दूसरी ओर, आधुनिक विज्ञान तथा

वैज्ञानिक युद्ध में शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए न जाने कितने टन रसायन फूँक देते हैं। वैभाषिक दर्शन के अनुसार आत्मा शरीर के क्षय होते ही लुप्त हो जाता है। अतः प्रत्येक दशा में चाहे अर्जुन इस वैदिक मान्यता को स्वीकार करता कि अणु-आत्मा का अस्तित्व है, या कि वह आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, उसके लिए शोक करने का कोई कारण न था। इस सिद्धान्त के अनुसार चूँकि पदार्थ से प्रत्येक क्षण असंख्य जीव उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं, अतः ऐसी घटनाओं के लिए शोक करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता तो अर्जुन को अपने पितामह तथा गुरु के वध करने के पापफलों से डरने का कोई कारण न था। किन्तु साथ ही कृष्ण ने अर्जुन को व्यंगपूर्वक महाबाहु कह कर सम्बोधित किया क्योंकि उसे वैभाषिक सिद्धान्त स्वीकार नहीं था जो वैदिक ज्ञान के प्रतिकूल है। क्षत्रिय होने के नाते अर्जुन का सम्बन्ध वैदिक संस्कृति से था और वैदिक सिद्धान्तों का पालन करते रहना ही उसके लिए शोभनीय था।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

जातस्य—जन्म लेने वाले की; हि—निश्चय ही; ध्रुवः—तथ्य है; मृत्युः—मृत्यु; ध्रुवम्—यह भी तथ्य है; जन्म—जन्म; मृतस्य—मृत प्राणी का; च—भी; तस्मात्—अतः; अपरिहार्ये—जिससे बचा न जा सके, उसका; अर्थे—के विषय में; न—नहीं; त्वम्—तुम; शोचितुम्—शोक करने के लिए; अर्हसि—योग्य हो।

जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है और मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म भी निश्चित है। अतः अपने अपरिहार्य कर्तव्यपालन में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य

मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार जन्म ग्रहण करना होता है और एक कर्म-अवधि समाप्त होने पर उसे मरना होता है, जिससे वह दूसरा जन्म ले सके। इस प्रकार मुक्ति प्राप्त किये बिना ही जन्म-मृत्यु का यह चक्र चलता रहता है। जन्म-मरण के इस चक्र से वृथा हत्या, वध तथा युद्ध का समर्थन

नहीं होता। किन्तु मानव समाज में शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए हिंसा तथा युद्ध अपरिहार्य हैं।

कुरुक्षेत्र का युद्ध भगवान् की इच्छा होने के कारण अपरिहार्य था और सत्य के लिए युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है। अतः अपने कर्तव्य का पालन करते हुए वह स्वजनों की मृत्यु से भयभीत या शोकाकुल क्यों था? वह विधि (कानून) को भंग नहीं करना चाहता था क्योंकि ऐसा करने पर उसे उन पापकर्मों के फल भोगने पड़ेंगे जिनसे वह अत्यन्त भयभीत था। अपने कर्तव्य का पालन करते हुए वह स्वजनों की मृत्यु को रोक नहीं सकता था और यदि वह अनुचित कर्तव्य-पथ का चुनाव करे, तो उसे नीचे गिरना होगा।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अव्यक्त-आदीनि—प्रारम्भ में अप्रकट; भूतानि—सारे प्राणी; व्यक्त—प्रकट;
मध्यानि—मध्य में; भारत—हे भरतवंशी; अव्यक्त—अप्रकट; निधनानि—विनाश होने पर; एव—इस तरह से; तत्र—अतः; का—क्या; परिदेवना—शोक।

सारे जीव प्रारम्भ में अव्यक्त रहते हैं, मध्य अवस्था में व्यक्त होते हैं और विनष्ट होने पर पुनः अव्यक्त हो जाते हैं। अतः शोक करने की क्या आवश्यकता है?

तात्पर्य

यह स्वीकार करते हुए कि दो प्रकार के दार्शनिक हैं—एक तो वे जो आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं, और दूसरे वे जो आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते, कहा जा सकता है कि किसी भी दशा में शोक करने का कोई कारण नहीं है। आत्मा के अस्तित्व को न मानने वालों को वेदान्तवादी नास्तिक कहते हैं। यदि हम तर्क के लिए इस नास्तिकतावादी सिद्धान्त को मान भी लें तो भी शोक करने का कोई कारण नहीं है। आत्मा के पृथक् अस्तित्व से भिन्न सारे भौतिक तत्त्व सृष्टि के पूर्व अदृश्य रहते हैं। इस अदृश्य रहने की सूक्ष्म अवस्था से ही दृश्य अवस्था आती है, जिस प्रकार

आकाश से वायु उत्पन्न होती है, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। पृथ्वी से अनेक प्रकार के पदार्थ प्रकट होते हैं—यथा एक विशाल गगनचुम्बी महल पृथ्वी से ही प्रकट है। जब इसे ध्वस्त कर दिया जाता है, तो वह अदृश्य हो जाता है, और अन्ततः परमाणु रूप में बना रहता है। शक्ति-संरक्षण का नियम बना रहता है, किन्तु कालक्रम से वस्तुएँ प्रकट तथा अप्रकट होती रहती हैं—अन्तर इतना ही है। अतः प्रकट होने (व्यक्त) या अप्रकट (अव्यक्त) होने पर शोक करने का कोई कारण नहीं है। यहाँ तक कि अप्रकट अवस्था में भी वस्तुएँ समाप्त नहीं होतीं। प्रारम्भिक तथा अन्तिम दोनों अवस्थाओं में ही सारे तत्त्व अप्रकट रहते हैं, केवल मध्य में वे प्रकट होते हैं और इस तरह इससे कोई वास्तविक अन्तर नहीं पड़ता।

यदि हम *भगवद्गीता* के इस वैदिक निष्कर्ष को मानते हैं कि ये भौतिक शरीर कालक्रम में नाशवान हैं (*अन्तवन्त इमे देहाः*) किन्तु आत्मा शाश्वत है (*नित्यस्योक्ताः शरीरिणः*) तो हमें यह सदा स्मरण रखना होगा कि यह शरीर वस्त्र (परिधान) के समान है, अतः वस्त्र परिवर्तन होने पर शोक क्यों? शाश्वत आत्मा की तुलना में भौतिक शरीर का कोई यथार्थ अस्तित्व नहीं होता। यह स्वप्न के समान है। स्वप्न में हम आकाश में उड़ते या राजा की भाँति रथ पर आरूढ़ हो सकते हैं, किन्तु जागने पर देखते हैं कि न तो हम आकाश में हैं, न रथ पर। वैदिक ज्ञान आत्म-साक्षात्कार को भौतिक शरीर के अनस्तित्व के आधार पर प्रोत्साहन देता है। अतः चाहे हम आत्मा के अस्तित्व को मानें या न मानें, शरीर-नाश के लिए शोक करने का कोई कारण नहीं है।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-

माश्चर्यवद्ब्रूदति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

आश्चर्य-वत्—आश्चर्य की तरह; पश्यति—देखता है; कश्चित्—कोई; एनम्—इस आत्मा को; आश्चर्य-वत्—आश्चर्य की तरह; ब्रूदति—कहता है; तथा—जिस प्रकार;

एव—निश्चय ही; च—भी; अन्यः—दूसरा; आश्चर्य-वत्—आश्चर्य से; च—और;
 एनम्—इस आत्मा को; अन्यः—दूसरा; शृणोति—सुनता है; श्रुत्वा—सुनकर; अपि—
 भी; एनम्—इस आत्मा को; वेद—जानता है; न—कभी नहीं; च—तथा; एव—
 निश्चय ही; कश्चित्—कोई।

कोई आत्मा को आश्चर्य से देखता है, कोई इसे आश्चर्य की तरह बताता है तथा कोई इसे आश्चर्य की तरह सुनता है, किन्तु कोई-कोई इसके विषय में सुनकर भी कुछ नहीं समझ पाते।

तात्पर्य

चूँकि गीतोपनिषद् उपनिषदों के सिद्धान्त पर आधारित है, अतः कठोपनिषद् में (१.२.७) इस श्लोक का होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है—

श्रवणयापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्योऽस्य ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥

विशाल पशु, विशाल वटवृक्ष तथा एक इंच स्थान में लाखों करोड़ों की संख्या में उपस्थित सूक्ष्मकीटाणुओं के भीतर अणु-आत्मा की उपस्थिति निश्चित रूप से आश्चर्यजनक है। अल्पज्ञ तथा दुराचारी व्यक्ति अणु-आत्मा के स्फुलिंग के चमत्कारों को नहीं समझ पाता, भले ही उसे बड़े से बड़ा ज्ञानी, जिसने विश्व के प्रथम प्राणी ब्रह्मा को भी शिक्षा दी हो, क्यों न समझाए। वस्तुओं के स्थूल भौतिक बोध के कारण इस युग के अधिकांश व्यक्ति इसकी कल्पना नहीं कर सकते कि इतना सूक्ष्मकण किस प्रकार इतना विराट तथा इतना लघु बन सकता है। अतः लोग आत्मा को उसकी संरचना या उसके विवरण के आधार पर ही आश्चर्य से देखते हैं। इन्द्रियतृप्ति की बातों में फँस कर लोग भौतिक शक्ति (माया) से इस तरह मोहित होते हैं कि उनके पास आत्मज्ञान को समझने का अवसर ही नहीं रहता यद्यपि यह तथ्य है कि आत्म-ज्ञान के बिना सारे कार्यों का दुष्परिणाम जीवन-संघर्ष में पराजय के रूप में होता है। सम्भवतः उन्हें इसका कोई अनुमान नहीं होता कि मनुष्य को आत्मा के विषय में चिन्तन करना चाहिए और दुखों का हल खोज निकालना चाहिए।

ऐसे थोड़े से लोग, जो आत्मा के विषय में सुनने के इच्छुक हैं, अच्छी संगति पाकर भाषण सुनते हैं, किन्तु कभी-कभी अज्ञानवश वे परमात्मा

तथा अणु-आत्मा को एक समझ बैठते हैं। ऐसा व्यक्ति खोज पाना कठिन है जो परमात्मा, अणु-आत्मा, उनके पृथक-पृथक कार्यों तथा सम्बन्धों एवं अन्य विस्तारों को सही ढंग से समझ सके। इससे अधिक कठिन है ऐसा व्यक्ति खोज पाना जिसने आत्मा के ज्ञान से पूरा-पूरा लाभ उठाया हो और जो सभी पक्षों से आत्मा की स्थिति का सही-सही निर्धारण कर सके। किन्तु यदि कोई किसी तरह से आत्मा के इस विषय को समझ लेता है तो उसका जीवन सफल हो जाता है।

इस आत्म-ज्ञान को समझने का सरलतम उपाय यह है कि अन्य मतों से विचलित हुए बिना परम प्रमाण भगवान् कृष्ण द्वारा कथित *भगवद्गीता* के उपदेशों को ग्रहण कर लिया जाय। किन्तु इसके लिए भी इस जन्म में या पिछले जन्मों में प्रचुर तपस्या की आवश्यकता होती है, तभी कृष्ण को श्रीभगवान् के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। पर कृष्ण को इस रूप में जानना शुद्ध भक्तों की अहैतुकी कृपा से ही होता है, अन्य किसी उपाय से नहीं।

ॐ ॐ ॐ
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

देही—भौतिक शरीर का स्वामी; नित्यम्—शाश्वत; अवध्यः—मारा नहीं जा सकता; अयम्—यह आत्मा; देहे—शरीर में; सर्वस्य—हर एक के; भारत—हे भरतवंशी; तस्मात्—अतः; सर्वाणि—समस्त; भूतानि—जीवों (जन्म लेने वालों) को; न—कभी नहीं; त्वम्—तुम; शोचितुम्—शोक करने के लिए; अर्हसि—योग्य हो।

हे भरतवंशी! शरीर में रहने वाले (देही) का कभी भी वध नहीं किया जा सकता। अतः तुम्हें किसी भी जीव के लिए शोक करने की आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य

अब भगवान् अविकारी आत्मा विषयक अपना उपदेश समाप्त कर रहे हैं। अमर आत्मा का अनेक प्रकार से वर्णन करते हुए भगवान् कृष्ण ने आत्मा को अमर तथा शरीर को नाशवान सिद्ध किया है। अतः क्षत्रिय होने के नाते अर्जुन को इस भय से कि युद्ध में उसके पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोण मर

जायेंगे अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिए। कृष्ण को प्रमाण मानकर भौतिक देह से भिन्न आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना ही होगा, यह नहीं कि आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है या कि जीवन के लक्षण रसायनों की अन्तःक्रिया के फलस्वरूप एक विशेष अवस्था में प्रकट होते हैं। यद्यपि आत्मा अमर है, किन्तु इससे हिंसा को प्रोत्साहित नहीं किया जाता। फिर भी युद्ध के समय हिंसा का निषेध नहीं किया जाता क्योंकि तब इसकी आवश्यकता रहती है। ऐसी आवश्यकता को भगवान् की आज्ञा के आधार पर उचित ठहराया जा सकता है, स्वेच्छा से नहीं।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

स्व-धर्मम्—अपने धर्म को; अपि—भी; च—निस्सन्देह; अवेक्ष्य—विचार करके;

न—कभी नहीं; विकम्पितुम्—संकोच करने के लिए; अर्हसि—तुम योग्य हो;

धर्म्यात्—धर्म के लिए; हि—निस्सन्देह; युद्धात्—युद्ध करने की अपेक्षा; श्रेयः—श्रेष्ठ

साधन; अन्यत्—कोई दूसरा; क्षत्रियस्य—क्षत्रिय का; न—नहीं; विद्यते—है।

क्षत्रिय होने के नाते अपने विशिष्ट धर्म का विचार करते हुए तुम्हें जानना चाहिए कि धर्म के लिए युद्ध करने से बढ़ कर तुम्हारे लिए अन्य कोई कार्य नहीं है। अतः तुम्हें संकोच करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य

सामाजिक व्यवस्था के चार वर्णों में द्वितीय वर्ण उत्तम शासन के लिए है और क्षत्रिय कहलाता है। क्षत् का अर्थ है चोट खाया हुआ। जो क्षति से रक्षा करे वह क्षत्रिय कहलाता है (त्रायते—रक्षा प्रदान करना)। क्षत्रियों को वन में आखेट करने का प्रशिक्षण दिया जाता है। क्षत्रिय जंगल में जाकर शेर को ललकारता और उससे आमने-सामने अपनी तलवार से लड़ता था। शेर की मृत्यु होने पर उसकी राजसी ढंग से अन्त्येष्टि की जाती थी। आज भी जयपुर रियासत के क्षत्रिय राजा इस प्रथा का पालन करते हैं। क्षत्रियों को विशेष रूप से ललकारने तथा मारने की शिक्षा दी जाती है क्योंकि कभी-कभी धार्मिक हिंसा अनिवार्य होती है। इसलिए क्षत्रियों को सीधे

संन्यासाश्रम ग्रहण करने का विधान नहीं है। राजनीति में अहिंसा कूटनीतिक चाल हो सकती है, किन्तु यह कभी भी कारण या सिद्धान्त नहीं रही। धार्मिक संहिताओं में उल्लेख मिलता है—

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।

युद्धमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥

यज्ञेषु पशवो ब्रह्मन् हन्यन्ते सततं द्विजैः ।

संस्कृताः किल मन्त्रैश्च तेऽपि स्वर्गमवाप्नुवन् ॥

“युद्ध में विरोधी ईर्ष्यालु राजा से संघर्ष करते हुए मरने वाले राजा या क्षत्रिय को मृत्यु के अनन्तर वे ही उच्चलोक प्राप्त होते हैं जिनकी प्राप्ति यज्ञाग्नि में मारे गये पशुओं को होती है।” अतः धर्म के लिए युद्धभूमि में वध करना तथा याज्ञिक अग्नि के लिए पशुओं का वध करना हिंसा कार्य नहीं माना जाता क्योंकि इसमें निहित धर्म के कारण प्रत्येक व्यक्ति को लाभ पहुँचता है और यज्ञ में बलि दिये गये पशु को एक स्वरूप से दूसरे में बिना विकास प्रक्रिया के ही तुरन्त मनुष्य का शरीर प्राप्त हो जाता है। इसी तरह युद्धभूमि में मारे गये क्षत्रिय यज्ञ सम्पन्न करने वाले ब्राह्मणों को प्राप्त होने वाले स्वर्गलोक में जाते हैं।

स्वधर्म दो प्रकार का होता है। जब तक मनुष्य मुक्त नहीं हो जाता तब तक मुक्ति प्राप्त करने के लिए धर्म के अनुसार शरीर विशेष के कर्तव्य करने होते हैं। जब वह मुक्त हो जाता है तो उसका विशेष कर्तव्य या स्वधर्म आध्यात्मिक हो जाता है और देहात्मबुद्धि में नहीं रहता। जब तक देहात्मबुद्धि है तब तक ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के लिए स्वधर्म पालन अनिवार्य होता है। स्वधर्म का विधान भगवान् द्वारा होता है, जिसका स्पष्टीकरण चतुर्थ अध्याय में किया जायेगा। शारीरिक स्तर पर स्वधर्म को वर्णाश्रम-धर्म अथवा आध्यात्मिक बोध का प्रथम सोपान कहते हैं। वर्णाश्रम-धर्म अर्थात् प्राप्त शरीर के विशिष्ट गुणों पर आधारित स्वधर्म की अवस्था से मानवीय सभ्यता का शुभारम्भ होता है। वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार किसी कार्य-क्षेत्र में स्वधर्म का निर्वाह करने से जीवन के उच्चतर पद को प्राप्त किया जा सकता है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—अपने आप; च—भी; उपपन्नम्—प्राप्त हुए; स्वर्ग—स्वर्गलोक का; द्वारम्—दरवाजा; अपावृतम्—खुला हुआ; सुखिनः—अत्यन्त सुखी; क्षत्रियाः—राजपरिवार के सदस्य; पार्थ—हे पृथापुत्र; लभन्ते—प्राप्त करते हैं; युद्धम्—युद्ध को; ईदृशम्—इस तरह।

हे पार्थ! वे क्षत्रिय सुखी हैं जिन्हें ऐसे युद्ध के अवसर अपने आप प्राप्त होते हैं जिससे उनके लिए स्वर्गलोक के द्वार खुल जाते हैं।

तात्पर्य

विश्व के परम गुरु भगवान् कृष्ण अर्जुन की इस प्रवृत्ति की भर्त्सना करते हैं जब वह कहता है कि उसे इस युद्ध में कुछ भी तो लाभ नहीं दिख रहा है। इससे नरक में शाश्वत वास करना होगा। अर्जुन द्वारा ऐसे वक्तव्य केवल अज्ञानजन्य थे। वह अपने स्वधर्म के आचरण में अहिंसक बनना चाह रहा था, किन्तु एक क्षत्रिय के लिए युद्धभूमि में स्थित होकर इस प्रकार अहिंसक बनना मूर्खों का दर्शन है। पराशर-स्मृति में व्यासदेव के पिता पराशर ने कहा है—

क्षत्रियो हि प्रजारक्षन् शस्त्रपाणिः प्रदण्डयन् ।

निर्जित्य परसैन्यादि क्षितिं धर्मेण पालयेत् ॥

“क्षत्रिय का धर्म है कि वह सभी क्लेशों से नागरिकों की रक्षा करे। इसीलिए उसे शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए हिंसा करनी पड़ती है। अतः उसे शत्रु राजाओं के सैनिकों को जीत कर धर्मपूर्वक संसार पर राज्य करना चाहिए।”

यदि सभी पक्षों पर विचार करें तो अर्जुन को युद्ध से विमुख होने का कोई कारण नहीं था। यदि वह शत्रुओं को जीतता है तो राज्यभोग करेगा और यदि वह युद्धभूमि में मरता है तो स्वर्ग को जायेगा जिसके द्वार उसके लिए खुले हुए हैं। युद्ध करने से उसे दोनों ही तरह लाभ होगा।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; चेत्—यदि; त्वम्—तुम; इमम्—इस; धर्म्यम्—धर्म रूपी; सङ्ग्रामम्—युद्ध को; न—नहीं; करिष्यसि—करोगे; ततः—तब; स्व-धर्मम्—अपने धर्म को; कीर्तिम्—यश को; च—भी; हित्वा—खोकर; पापम्—पापपूर्ण फल को; अवाप्स्यसि—प्राप्त करोगे ।

किन्तु यदि तुम युद्ध करने के स्वधर्म को सम्पन्न नहीं करते तो तुम्हें निश्चित रूप से अपने कर्तव्य की उपेक्षा करने का पाप लगेगा और तुम योद्धा के रूप में भी अपना यश खो दोगे ।

तात्पर्य

अर्जुन विख्यात योद्धा था जिसने शिव आदि अनेक देवताओं से युद्ध करके यश अर्जित किया था। शिकारी के वेश में शिवजी से युद्ध करके तथा उन्हें हरा कर अर्जुन ने उन्हें प्रसन्न किया था और वर के रूप में पाशुपतास्त्र प्राप्त किया था। सभी लोग जानते थे कि वह एक महान योद्धा है। स्वयं द्रोणाचार्य ने उसे आशीष दिया था और एक विशेष अस्त्र प्रदान किया था, जिससे वह अपने गुरु का भी वध कर सकता था। इस प्रकार वह अपने धर्मपिता एवं स्वर्ग के राजा इन्द्र समेत अनेक अधिकारियों से अनेक युद्धों के प्रमाणपत्र प्राप्त कर चुका था, किन्तु यदि वह इस समय युद्ध का परित्याग करता है तो वह न केवल क्षत्रिय धर्म की उपेक्षा का दोषी होगा, अपितु उसके यश की भी हानि होगी और वह नरक जाने के लिए अपना मार्ग तैयार कर लेगा। दूसरे शब्दों में, वह युद्ध करने से नहीं, अपितु युद्ध से पलायन करने के कारण नरक का भागी होगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

अकीर्तिम्—अपयश; च—भी; अपि—इसके अतिरिक्त; भूतानि—सभी लोग; कथयिष्यन्ति—कहेंगे; ते—तुम्हारे; अव्ययाम्—सदा के लिए; सम्भावितस्य—

सम्मानित व्यक्ति के लिए; च—भी; अकीर्ति:—अपयश, अपकीर्ति; मरणात्—मृत्यु से भी; अतिरिच्यते—अधिक होती है।

लोग सदैव तुम्हारे अपयश का वर्णन करेंगे और सम्मानित व्यक्ति के लिए अपयश तो मृत्यु से भी बढ़कर है।

तात्पर्य

अब अर्जुन के मित्र तथा गुरु के रूप में भगवान् कृष्ण अर्जुन को युद्ध से विमुख न होने का अन्तिम निर्णय देते हैं। वे कहते हैं, “अर्जुन! यदि तुम युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व ही युद्धभूमि छोड़ देते हो तो लोग तुम्हें कायर कहेंगे। और यदि तुम सोचते हो कि लोग गाली देते रहें, किन्तु तुम युद्धभूमि से भागकर अपनी जान बचा लोगे तो मेरी सलाह है कि तुम्हें युद्ध में मर जाना ही श्रेयस्कर होगा। तुम जैसे सम्माननीय व्यक्ति के लिए अपकीर्ति मृत्यु से भी बुरी है। अतः तुम्हें प्राणभय से भागना नहीं चाहिए, युद्ध में मर जाना ही श्रेयस्कर होगा। इससे तुम मेरी मित्रता का दुरुपयोग करने तथा समाज में अपनी प्रतिष्ठा खोने के अपयश से बच जाओगे।”

अतः अर्जुन के लिए भगवान् का अन्तिम निर्णय था कि वह संग्राम से पलायन न करे अपितु युद्ध में मरे।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

भयात्—भय से; रणात्—युद्धभूमि से; उपरतम्—विमुख; मंस्यन्ते—मानेंगे; त्वाम्—तुमको; महा-रथाः—बड़े-बड़े योद्धा; येषाम्—जिनके लिए; च—भी; त्वम्—तुम; बहु-मतः—अत्यन्त सम्मानित; भूत्वा—हो कर; यास्यसि—जाओगे; लाघवम्—तुच्छता को।

जिन-जिन महान योद्धाओं ने तुम्हारे नाम तथा यश को सम्मान दिया है वे सोचेंगे कि तुमने डर के मारे युद्धभूमि छोड़ दी है और इस तरह वे तुम्हें तुच्छ मानेंगे।

तात्पर्य

भगवान् कृष्ण अर्जुन को अपना निर्णय सुना रहे हैं, “तुम यह मत सोचो कि दुर्योधन, कर्ण तथा अन्य समकालीन महारथी यह सोचेंगे कि तुमने

अपने भाइयों तथा पितामह पर दया करके युद्धभूमि छोड़ी है। वे तो यही सोचेंगे कि तुमने अपने प्राणों के भय से युद्धभूमि छोड़ी है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में तुम्हारे प्रति जो सम्मान है वह धूल में मिल जायेगा।”

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अवाच्य—कटु; वादान्—मिथ्या शब्द; च—भी; बहून्—अनेक; वदिष्यन्ति—कहेंगे; तव—तुम्हारे; अहिताः—शत्रु; निन्दन्तः—निन्दा करते हुए; तव—तुम्हारी; सामर्थ्यम्—सामर्थ्य को; ततः—उसकी अपेक्षा; दुःख-तरम्—अधिक दुखदायी; नु—निस्सन्देह; किम्—और क्या है?.

तुम्हारे शत्रु अनेक प्रकार के कटु शब्दों से तुम्हारा वर्णन करेंगे और तुम्हारी सामर्थ्य का उपहास करेंगे। तुम्हारे लिए इससे दुखदायी और क्या हो सकता है?

तात्पर्य

प्रारम्भ में ही भगवान् कृष्ण को अर्जुन के अयाचित दयाभाव पर आश्चर्य हुआ था और उन्होंने इस दयाभाव को अनार्योचित बताया था। अब उन्होंने विस्तार से अर्जुन के तथाकथित दयाभाव के विरुद्ध कहे गये अपने वचनों को सिद्ध कर दिया है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

हतः—मारा जा कर; वा—या तो; प्राप्स्यसि—प्राप्त करोगे; स्वर्गम्—स्वर्गलोक को; जित्वा—विजयी होकर; वा—अथवा; भोक्ष्यसे—भोगोगे; महीम्—पृथ्वी को; तस्मात्—अतः; उत्तिष्ठ—उठो; कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र; युद्धाय—लड़ने के लिए; कृत—दृढ़; निश्चयः—संकल्प से।

हे कुन्तीपुत्र! तुम यदि युद्ध में मारे जाओगे तो स्वर्ग प्राप्त करोगे या यदि तुम जीत जाओगे तो पृथ्वी के साम्राज्य का

भोग करोगे। अतः दृढ़ संकल्प करके खड़े होओ और युद्ध करो।

तात्पर्य

यद्यपि अर्जुन के पक्ष में विजय निश्चित न थी फिर भी उसे युद्ध करना था, क्योंकि यदि वह युद्ध में मारा भी गया तो वह स्वर्गलोक को जायेगा।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सुख—सुख; दुःखे—तथा दुःख में; समे—समभाव से; कृत्वा—करके; लाभ-अलाभौ—लाभ तथा हानि दोनों; जय-अजयौ—विजय तथा पराजय दोनों; ततः—तत्पश्चात्; युद्धाय—युद्ध करने के लिए; युज्यस्व—लगो (लड़ो) ; न—कभी नहीं; एवम्—इस तरह; पापम्—पाप; अवाप्स्यसि—प्राप्त करोगे।

तुम सुख या दुःख, हानि या लाभ, विजय या पराजय का विचार किये बिना युद्ध के लिए युद्ध करो। ऐसा करने पर तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा।

तात्पर्य

अब भगवान् कृष्ण प्रत्यक्ष रूप से कहते हैं कि अर्जुन को युद्ध के लिए युद्ध करना चाहिए क्योंकि यह उनकी इच्छा है। कृष्णभावनामृत के कार्यों में सुख या दुःख, हानि या लाभ, जय या पराजय को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। दिव्य चेतना तो यही होगी कि हर कार्य कृष्ण के निमित्त किया जाय, अतः भौतिक कार्यों का कोई बन्धन (फल) नहीं होता। जो कोई सतोगुण या रजोगुण के अधीन होकर अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करता है उसे अच्छे या बुरे फल प्राप्त होते हैं किन्तु जो कृष्णभावनामृत के कार्यों में अपने आपको समर्पित कर देता है वह सामान्य कर्म करने वाले के समान किसी का कृतज्ञ या ऋणी नहीं होता। *भागवत* में (११.५.४१) कहा गया है—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन् ।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ।

“जिसने अन्य समस्त कार्यो को त्याग कर मुकुन्द श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण कर ली है वह न तो किसी का ऋणी है और न किसी का कृतज्ञ—चाहे वे देवता, साधु, सामान्यजन, अथवा परिजन, मानवजाति या उसके पितर ही क्यों न हों।” इस श्लोक में कृष्ण ने अर्जुन को अप्रत्यक्ष रूप से इसी का संकेत किया है। इसकी व्याख्या अगले श्लोकों में और भी स्पष्टता से की जायेगी।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धियोगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

एषा—यह सब; ते—तेरे लिए; अभिहिता—वर्णन किया गया; साङ्ख्ये—वैश्लेषिक अध्ययन द्वारा; बुद्धिः—बुद्धि; योगे—निष्काम कर्म में; तु—लेकिन; इमाम्—इसे; शृणु—सुनो; बुद्ध्या—बुद्धि से; युक्तः—साथ-साथ, सहित; यया—जिससे; पार्थ—हे पृथापुत्र; कर्म-बन्धम्—कर्म के बन्धन से; प्रहास्यसि—मुक्त हो जाओगे।

यहाँ मैंने वैश्लेषिक अध्ययन (सांख्य) द्वारा इस ज्ञान का वर्णन किया है। अब निष्काम भाव से कर्म करना बता रहा हूँ, उसे सुनो। हे पृथापुत्र! तुम यदि ऐसे ज्ञान से कर्म करोगे तो तुम कर्मों के बन्धन से अपने को मुक्त कर सकते हो।

तात्पर्य

वैदिक कोश *निरुक्ति* के अनुसार *सांख्य* का अर्थ है—विस्तार से वस्तुओं का वर्णन करने वाला तथा *सांख्य* उस दर्शन के लिए प्रयुक्त मिलता है जो आत्मा की वास्तविक प्रकृति का वर्णन करता है। और *योग* का अर्थ है—इन्द्रियों का निग्रह। अर्जुन का युद्ध न करने का प्रस्ताव इन्द्रियतृप्ति पर आधारित था। वह अपने प्रधान कर्तव्य को भुलाकर युद्ध से दूर रहना चाहता था क्योंकि उसने यह सोचा कि धृतराष्ट्र के पुत्रों अर्थात् अपने बन्धु-बान्धवों को परास्त करके राज्यभोग करने की अपेक्षा अपने सम्बन्धियों तथा स्वजनों को न मारकर वह अधिक सुखी रहेगा। दोनों ही प्रकार से मूल सिद्धान्त तो इन्द्रियतृप्ति था। उन्हें जीतने से प्राप्त होने वाला सुख तथा स्वजनों को जीवित देखने का सुख ये दोनों इन्द्रियतृप्ति के

धरातल पर एक हैं, क्योंकि इससे बुद्धि तथा कर्तव्य दोनों का अन्त हो जाता है। अतः कृष्ण ने अर्जुन को बताना चाहा कि वह अपने पितामह के शरीर का वध करके उनके आत्मा को नहीं मारेगा। उन्होंने यह बताया कि उनके सहित सारे जीव शाश्वत प्राणी हैं, वे भूतकाल में प्राणी थे, वर्तमान में भी प्राणी रूप में हैं और भविष्य में भी प्राणी बने रहेंगे क्योंकि हम सब शाश्वत आत्मा हैं। हम विभिन्न प्रकार से केवल अपना शारीरिक परिधान (वस्त्र) बदलते रहते हैं और इस भौतिक वस्त्र के बन्धन से मुक्ति के बाद भी हमारी पृथक् सत्ता बनी रहती है। भगवान् कृष्ण द्वारा आत्मा तथा शरीर का अत्यन्त विशद् वैश्लेषिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और *निरुक्ति कोश* की शब्दावली में इस विशद् अध्ययन को यहाँ *सांख्य* कहा गया है। इस *सांख्य* का नास्तिक-कपिल के *सांख्य-दर्शन* से कोई सरोकार नहीं है। इस नास्तिक-कपिल के *सांख्य दर्शन* से बहुत पहले भगवान् कृष्ण के अवतार भगवान् कपिल ने अपनी माता देवहूति के समक्ष *श्रीमद्भागवत* में वास्तविक *सांख्य-दर्शन* पर प्रवचन किया था। उन्होंने स्पष्ट बताया है कि *पुरुष* या परमेश्वर क्रियाशील हैं और वे *प्रकृति* पर दृष्टिपात करके सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं। इसको वेदों ने तथा *गीता* ने स्वीकार किया है। वेदों में वर्णन मिलता है कि भगवान् ने प्रकृति पर दृष्टिपात किया और उसमें आणविक जीवात्माएँ प्रविष्ट कर दीं। ये सारे जीव भौतिक-जगत् में इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करते रहते हैं और माया के वशीभूत होकर अपने को भोक्ता मानते रहते हैं। इस मानसिकता की चरम सीमा भगवान् के साथ सायुज्य प्राप्त करना है। यह *माया* अथवा इन्द्रियतृप्तिजन्य मोह का अन्तिम पाश है और अनेकानेक जन्मों तक इस तरह इन्द्रियतृप्ति करते हुए कोई महात्मा भगवान् कृष्ण यानी वासुदेव की शरण में जाता है जिससे परम सत्य की खोज पूरी होती है।

अर्जुन ने कृष्ण की शरण ग्रहण करके पहले ही उन्हें गुरु रूप में स्वीकार कर लिया है—*शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।* फलस्वरूप कृष्ण अब उसे *बुद्धियोग* या *कर्मयोग* की कार्यविधि बताएँगे जो कृष्ण की इन्द्रियतृप्ति के लिए किया गया भक्तियोग है। यह *बुद्धियोग* अध्याय दस के दसवें श्लोक में वर्णित है जिसमें इसे उन भगवान् के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क बताया

गया है जो सबके हृदय में परमात्मा रूप में विद्यमान हैं, किन्तु ऐसा सम्पर्क भक्ति के बिना सम्भव नहीं है। अतः जो भगवान् की भक्ति या दिव्य प्रेमाभक्ति में या कृष्णभावनामृत में स्थित होता है, वही भगवान् की विशिष्ट कृपा से बुद्धियोग की यह अवस्था प्राप्त कर पाता है। अतः भगवान् कहते हैं कि जो लोग दिव्य प्रेमवश भक्ति में निरन्तर लगे रहते हैं उन्हें ही वे भक्ति का विशुद्ध ज्ञान प्रदान करते हैं। इस प्रकार भक्त सरलता से उनके चिदानन्दमय धाम में पहुँच सकते हैं।

इस प्रकार इस श्लोक में वर्णित बुद्धियोग भगवान् कृष्ण की भक्ति है और यहाँ पर उल्लिखित सांख्य शब्द का नास्तिक-कपिल द्वारा प्रतिपादित अनीश्वरवादी सांख्य-योग से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अतः किसी को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि यहाँ पर उल्लिखित सांख्य-योग का अनीश्वरवादी सांख्य से किसी प्रकार का सम्बन्ध है। न ही उस समय उसके दर्शन का कोई प्रभाव था, और न कृष्ण ने ऐसी ईश्वरविहीन दार्शनिक कल्पना का उल्लेख करने की चिन्ता की। वास्तविक सांख्य-दर्शन का वर्णन भगवान् कपिल द्वारा श्रीमद्भागवत में हुआ है, किन्तु वर्तमान प्रकरणों में उस सांख्य से भी कोई सरोकार नहीं है। यहाँ सांख्य का अर्थ है शरीर तथा आत्मा का वैश्लेषिक अध्ययन। भगवान् कृष्ण ने आत्मा का वैश्लेषिक वर्णन अर्जुन को बुद्धियोग या कर्मयोग तक लाने के लिए किया। अतः भगवान् कृष्ण का सांख्य तथा भागवत में भगवान् कपिल द्वारा वर्णित सांख्य एक ही हैं। ये दोनों भक्तियोग हैं। अतः भगवान् कृष्ण ने कहा है कि केवल अल्पज्ञ ही सांख्य-योग तथा भक्तियोग में भेदभाव मानते हैं (सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः)।

निस्सन्देह अनीश्वरवादी सांख्य-योग का भक्तियोग से कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी बुद्धिहीन व्यक्तियों का दावा है कि भगवद्गीता में अनीश्वरवादी सांख्य का ही वर्णन हुआ है।

अतः मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि बुद्धियोग का अर्थ कृष्णभावनामृत में, पूर्ण आनन्द तथा भक्ति के ज्ञान में कर्म करना है। जो व्यक्ति भगवान् की तुष्टि के लिए कर्म करता है, चाहे वह कर्म कितना भी कठिन क्यों न हो, वह बुद्धियोग के सिद्धान्त के अनुसार कार्य करता है

और दिव्य आनन्द का अनुभव करता है। ऐसी दिव्य व्यस्तता के कारण उसे भगवत्कृपा से स्वतः सम्पूर्ण दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है और ज्ञान प्राप्त करने के लिए अतिरिक्त श्रम किये बिना ही उसकी पूर्ण मुक्ति हो जाती है। कृष्णभावनाभावित कर्म तथा फल प्राप्ति की इच्छा से किये गये कर्म में, विशेषतया पारिवारिक या भौतिक सुख प्राप्त करने की इन्द्रियतृप्ति के लिए किये गये कर्म में, प्रचुर अन्तर होता है। अतः बुद्धियोग हमारे द्वारा सम्पन्न कार्य का दिव्य गुण है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; इह—इस योग में; अभिक्रम—प्रयत्न करने में; नाशः—हानि; अस्ति—है; प्रत्यवायः—ह्रास; न—कभी नहीं; विद्यते—है; सु-अल्पम्—थोड़ा; अपि—यद्यपि; अस्य—इस; धर्मस्य—धर्म का; त्रायते—मुक्त करता है; महतः—महान; भयात्—भय से।

इस प्रयास में न तो हानि होती है न ही ह्रास अपितु इस पथ पर की गई अल्प प्रगति भी महान भय से रक्षा कर सकती है।

तात्पर्य

कर्म का सर्वोच्च दिव्य गुण है, कृष्णभावनामृत में कर्म या इन्द्रियतृप्ति की आशा न करके कृष्ण के हित में कर्म करना। ऐसे कर्म का लघु आरम्भ होने पर भी कोई बाधा नहीं आती है, न कभी इस आरम्भ का विनाश होता है। भौतिक स्तर पर प्रारम्भ किये जाने वाले किसी भी कार्य को पूरा करना होता है अन्यथा सारा प्रयास निष्फल हो जाता है। किन्तु कृष्णभावनामृत में प्रारम्भ किया जाने वाला कोई भी कार्य अधूरा रह कर भी स्थायी प्रभाव डालता है। अतः ऐसे कर्म करने वाले को कोई हानि नहीं होती, चाहे यह कर्म अधूरा ही क्यों न रह जाय। यदि कृष्णभावनामृत का एक प्रतिशत भी कार्य पूरा हुआ हो तो उसका स्थायी फल होता है, अतः अगली बार दो प्रतिशत से शुभारम्भ होगा, किन्तु भौतिक कर्म में जब तक शत प्रतिशत सफलता प्राप्त न हो तब तक कोई लाभ नहीं होता। अजामिल ने कृष्णभावनामृत में अपने कर्तव्य का कुछ ही प्रतिशत पूरा किया था, किन्तु

भगवान् की कृपा से उसे शत प्रतिशत लाभ मिला। इस सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत में (१.५.१७) एक अत्यन्त सुन्दर श्लोक आया है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपन्नोऽथ पतेत्ततो यदि ।

यत्र कृवाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥

“यदि कोई अपना धर्म छोड़कर कृष्णभावनामृत में काम करता है और फिर काम पूरा न होने के कारण नीचे गिर जाता है तो इसमें उसको क्या हानि? और यदि कोई अपने भौतिक कार्यों को पूरा करता है तो इससे उसको क्या लाभ होगा? अथवा जैसा कि ईसाई कहते हैं “यदि कोई अपनी शाश्वत आत्मा को खोकर सम्पूर्ण जगत् को पा ले तो मनुष्य को इससे क्या लाभ होगा?”

भौतिक कार्य तथा उनके फल शरीर के साथ ही समाप्त हो जाते हैं, किन्तु कृष्णभावनामृत में किया गया कार्य मनुष्य को इस शरीर के विनष्ट होने पर भी पुनः कृष्णभावनामृत तक ले जाता है। कम से कम इतना तो निश्चित है कि अगले जन्म में उसे सुसंस्कृत ब्राह्मण परिवार में या धनीमानी कुल में मनुष्य का शरीर प्राप्त हो सकेगा जिससे उसे भविष्य में ऊपर उठने का अवसर प्राप्त हो सकेगा। कृष्णभावनामृत में सम्पन्न कार्य का यही अनुपम गुण है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

व्यवसाय-आत्मिका—कृष्णभावनामृत में स्थिर; बुद्धिः—बुद्धि; एका—एकमात्र; इह—इस संसार में; कुरु-नन्दन—हे कुरुओं के प्रिय पुत्र; बहु-शाखाः—अनेक शाखाओं में विभक्त; हि—निस्सन्देह; अनन्ताः—असीम; च—भी; बुद्धयः—बुद्धि; अव्यवसायिनाम्—जो कृष्णभावनामृत में नहीं हैं उनकी।

जो इस मार्ग पर (चलते) हैं वे प्रयोजन में दृढ़ रहते हैं और उनका लक्ष्य भी एक होता है। हे कुरुनन्दन! जो दृढ़प्रतिज्ञ नहीं हैं उनकी बुद्धि अनेक शाखाओं में विभक्त रहती है।

तात्पर्य

यह दृढ़ श्रद्धा कि कृष्णभावनामृत द्वारा मनुष्य जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त कर सकेगा, *व्यवसायात्मिका* बुद्धि कहलाती है। *चैतन्य-चरितामृत* में (मध्य २२.६२) कहा गया है—

'श्रद्धा'-शब्दे—विश्वास कहे सुदृढ निश्चय।

कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय ॥

श्रद्धा का अर्थ है किसी अलौकिक वस्तु में अटूट विश्वास। जब कोई कृष्णभावनामृत के कार्यों में लगा होता है तो उसे परिवार, मानवता या राष्ट्रीयता से बँध कर कार्य करने की आवश्यकता नहीं होती। पूर्व में किये गये शुभ-अशुभ कर्मों के फल ही उसे सकाम कर्मों में लगाते हैं। जब कोई कृष्णभावनामृत में संलग्न हो तो उसे अपने कार्यों के शुभ-फल के लिए प्रयत्नशील नहीं रहना चाहिए। जब कोई कृष्णभावनामृत में लीन होता है तो उसके सारे कार्य आध्यात्मिक धरातल पर होते हैं क्योंकि उनमें अच्छे तथा बुरे का द्वैत नहीं रह जाता। कृष्णभावनामृत की सर्वोच्च सिद्धि देहात्मबुद्धि का त्याग है। कृष्णभावनामृत की प्रगति के साथ क्रमशः यह अवस्था स्वतः प्राप्त हो जाती है।

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति का दृढ़निश्चय ज्ञान पर आधारित है। *वासुदेवः सर्वम् इति स महात्मा सुदुर्लभः*—कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अत्यन्त दुर्लभ जीव है जो भलीभाँति जानता है कि वासुदेव या कृष्ण समस्त प्रकट कारणों के मूल कारण हैं। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ सींचने पर स्वतः ही पत्तियों तथा टहनियों में जल पहुँच जाता है उसी तरह कृष्णाभावनाभावित होने पर मनुष्य प्रत्येक प्राणी की अर्थात् अपनी, परिवार की, समाज की, मानवता की सर्वोच्च सेवा कर सकता है। यदि मनुष्य के कर्मों से कृष्ण प्रसन्न हो जाएँ तो प्रत्येक व्यक्ति सन्तुष्ट होगा।

किन्तु कृष्णभावनामृत में सेवा गुरु के समर्थ निर्देशन में ही ठीक से हो पाती है क्योंकि गुरु कृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है जो शिष्य के स्वभाव से परिचित होता है और उसे कृष्णभावनामृत की दिशा में कार्य करने के लिए मार्ग दिखा सकता है। अतः कृष्णभावनामृत में दक्ष होने के लिए मनुष्य को दृढ़ता से कर्म करना होगा और कृष्ण के प्रतिनिधि की आज्ञा का पालन करना होगा। उसे गुरु के उपदेशों को जीवन का लक्ष्य

मान लेना होगा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गुरु की प्रसिद्ध प्रार्थना में उपदेश दिया है—

यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो यस्याप्रसादान्न गतिः कुतोऽपि ।

ध्यायन्स्तुवंस्तस्य यशस्त्रिसन्ध्यं वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम् ॥

“गुरु की तुष्टि से भगवान् भी प्रसन्न होते हैं। गुरु को प्रसन्न किये बिना कृष्णभावनामृत के स्तर तक पहुँच पाने की कोई सम्भावना नहीं रहती। अतः मुझे उनका चिन्तन करना चाहिए और दिन में तीन बार उनकी कृपा की याचना करनी चाहिए और अपने गुरु को सादर नमस्कार करना चाहिए।”

किन्तु यह सम्पूर्ण पद्धति देहात्मबुद्धि से परे सैद्धान्तिक रूप में नहीं वर्ण व्यावहारिक रूप में पूर्ण आत्म-ज्ञान पर निर्भर करती है, जब सकाम कर्मों से इन्द्रियतृप्ति की कोई सम्भावना नहीं रहती। जिसका मन दृढ़ नहीं है वही विभिन्न सकाम कर्मों की ओर आकर्षित होता है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

याम् इमाम्—ये सब; पुष्पिताम्—दिखावटी; वाचम्—शब्द; प्रवदन्ति—कहते हैं; अविपश्चितः—अल्पज्ञ व्यक्ति; वेद-वाद-रताः—वेदों के अनुयायी; पार्थ—हे पार्थ; न—कभी नहीं; अन्यत्—अन्य कुछ; अस्ति—है; इति—इस प्रकार; वादिनः—बोलनेवाले; काम-आत्मानः—इन्द्रियतृप्ति के इच्छुक; स्वर्ग-पराः—स्वर्ग प्राप्ति के इच्छुक; जन्म-कर्म-फल-प्रदाम्—उत्तम जन्म तथा अन्य सकाम कर्मफल प्रदान करने वाला; क्रिया-विशेष—भड़कीले उत्सव; बहुलाम्—विविध; भोग—इन्द्रियतृप्ति; ऐश्वर्य—तथा ऐश्वर्य; गतिम्—प्रगति; प्रति—की ओर।

अल्पज्ञानी मनुष्य वेदों के उन अलंकारिक शब्दों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, जो स्वर्ग की प्राप्ति, अच्छे जन्म, शक्ति इत्यादि के लिए विविध सकाम कर्म करने की संस्तुति

करते हैं। इन्द्रियतृप्ति तथा ऐश्वर्यमय जीवन की अभिलाषा के कारण वे कहते हैं कि इससे बढ़कर और कुछ नहीं है।

तात्पर्य

साधारणतः सब लोग अत्यन्त बुद्धिमान् नहीं होते और वे अज्ञान के कारण वेदों के कर्मकाण्ड भाग में बताये गये सकाम कर्मों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं। वे स्वर्ग में जीवन का आनन्द उठाने के लिए इन्द्रियतृप्ति कराने वाले प्रस्तावों से अधिक और कुछ नहीं चाहते जहाँ मदिरा तथा तरुणियाँ उपलब्ध हैं और भौतिक ऐश्वर्य सर्वसामान्य है। वेदों में स्वर्गलोक पहुँचने के लिए अनेक यज्ञों की संस्तुति है जिनमें *ज्योतिष्टोम* यज्ञ प्रमुख है। वास्तव में वेदों में कहा गया है कि जो स्वर्ग जाना चाहता है उसे ये यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए और अल्पज्ञानी पुरुष सोचते हैं कि वैदिक ज्ञान का सारा अभिप्राय इतना ही है। ऐसे लोगों के लिए कृष्णभावनामृत के दृढ़ कर्म में स्थित हो पाना अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार मूर्ख लोग विषैले वृक्षों के फूलों के प्रति बिना यह जाने कि इस आकर्षण का फल क्या होगा आसक्त रहते हैं उसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति स्वर्गिक ऐश्वर्य तथा तज्जनित इन्द्रियभोग के प्रति आकृष्ट रहते हैं।

वेदों के *कर्मकाण्ड* भाग में कहा गया है—*अपाम सोममृता अभूम तथा अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति*। दूसरे शब्दों में, जो लोग चातुर्मास तप करते हैं वे अमर तथा सदा सुखी रहने के लिए *सोम-रस* पीने के अधिकारी हो जाते हैं। यहाँ तक कि इस पृथ्वी में भी कुछ लोग *सोम-रस* के लिए अत्यन्त इच्छुक रहते हैं जिससे वे बलवान् बनें और इन्द्रियतृप्ति का सुख पाने में समर्थ हों। ऐसे लोगों को भवबन्धन से मुक्ति में कोई श्रद्धा नहीं होती और वे वैदिक यज्ञों की तड़क-भड़क में विशेष आसक्त रहते हैं। वे सामान्यतया विषयी होते हैं और जीवन में स्वर्गिक आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते। कहा जाता है कि स्वर्ग में नन्दन-कानन नामक अनेक उद्यान हैं जिनमें दैवी सुन्दरी स्त्रियों का संग तथा प्रचुर मात्रा में सोम-रस उपलब्ध रहता है। ऐसा शारीरिक सुख निस्सन्देह विषयी है, अतः ये लोग वे हैं जो भौतिक जगत् के स्वामी बन कर ऐसे भौतिक अस्थायी सुख के प्रति आसक्त हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

भोग—भौतिक भोग; ऐश्वर्य—तथा ऐश्वर्य के प्रति; प्रसक्तानाम्—आसक्तों के लिए; तया—ऐसी वस्तुओं से; अपहत-चेतसाम्—मोहग्रसित चित्त वाले; व्यवसाय-आत्मिका—दृढ़ निश्चय वाली; बुद्धिः—भगवान् की भक्ति; समाधौ—नियन्त्रित मन में; न—कभी नहीं; विधीयते—घटित होती है।

जो लोग इन्द्रियभोग तथा भौतिक ऐश्वर्य के प्रति अत्यधिक आसक्त होने से ऐसी वस्तुओं से मोहग्रस्त हो जाते हैं, उनके मनो में भगवान् के प्रति भक्ति का दृढ़ निश्चय नहीं होता।

तात्पर्य

समाधि का अर्थ है “स्थिर मन।” वैदिक शब्दकोश *निरुक्ति* के अनुसार—*सम्यग् आधीयतेऽस्मिन्नात्मतत्त्वयाथात्म्यम्*—जब मन आत्मा को समझने में स्थिर रहता है तो उसे समाधि कहते हैं। जो लोग इन्द्रियभोग में रुचि रखते हैं अथवा जो ऐसी क्षणिक वस्तुओं से मोहग्रस्त हैं उनके लिए समाधि कभी भी सम्भव नहीं है। माया के चक्कर में पड़कर वे न्यूनाधिक पतन को प्राप्त होते हैं।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

त्रै-गुण्य—प्राकृतिक तीनों गुणों से सम्बन्धित; विषयाः—विषयों में; वेदाः—वैदिक साहित्य; निस्त्रै-गुण्यः—प्रकृति के तीनों गुणों से परे; भव—होओ; अर्जुन—हे अर्जुन; निर्द्वन्द्वः—द्वैतभाव से मुक्त; नित्य-सत्त्व-स्थः—नित्य शुद्धसत्त्व में स्थित; निर्योग-क्षेमः—लाभ तथा रक्षा के भावों से मुक्त; आत्म-वान्—आत्मा में स्थित।

वेदों में मुख्यतया प्रकृति के तीनों गुणों का वर्णन हुआ है। हे अर्जुन! इन तीनों गुणों से ऊपर उठो। समस्त द्वैतों और लाभ तथा सुरक्षा की सारी चिन्ताओं से मुक्त होकर आत्म-परायण बनो।

तात्पर्य

सारे भौतिक कार्यों में प्रकृति के तीनों गुणों की क्रियाएँ तथा प्रतिक्रियाएँ निहित होती हैं। इनका उद्देश्य कर्म-फल होता है जो भौतिक जगत् में बन्धन का कारण है। वेदों में मुख्यतया सकाम कर्मों का वर्णन है जिससे सामान्य जन क्रमशः इन्द्रियतृप्ति के क्षेत्र से उठकर आध्यात्मिक धरातल तक पहुँच सकें। कृष्ण अपने शिष्य तथा मित्र के रूप में अर्जुन को सलाह देते हैं कि वह वेदान्त दर्शन के आध्यात्मिक पद तक ऊपर उठे जिसका प्रारम्भ ब्रह्म-जिज्ञासा अथवा परम आध्यात्मिकता पर प्रश्नों से होता है। इस भौतिक जगत् के सारे प्राणी अपने अस्तित्व के लिए कठिन संघर्ष करते रहते हैं। उनके लिए भगवान् ने इस भौतिक जगत् की सृष्टि करने के पश्चात् वैदिक ज्ञान प्रदान किया जो जीवन-यापन तथा भवबन्धन से छूटने का उपदेश देता है। जब इन्द्रियतृप्ति के कार्य यथा कर्मकाण्ड समाप्त हो जाते हैं तो उपनिषदों के रूप में भगवत् साक्षात्कार का अवसर प्रदान किया जाता है। ये उपनिषद् विभिन्न वेदों के अंश हैं उसी प्रकार जैसे भगवद्गीता पंचम वेद महाभारत का एक अंग है। उपनिषदों से आध्यात्मिक जीवन का शुभारम्भ होता है।

जब तक भौतिक शरीर का अस्तित्व है तब तक भौतिक गुणों की क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं। मनुष्य को चाहिए कि सुख-दुख या शीत-ग्रीष्म जैसी द्वैतताओं को सहन करना सीखे और इस प्रकार हानि तथा लाभ की चिन्ता से मुक्त हो जाय। जब मनुष्य कृष्ण की इच्छा पर पूर्णतया आश्रित रहता है तो यह दिव्य अवस्था प्राप्त होती है।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

यावान्—जितना सारा; अर्थः—प्रयोजन होता है; उद-पाने—जलकूप में; सर्वतः—सभी प्रकार से; सम्प्लुत-उदके—विशाल जलाशय में; तावान्—उसी तरह; सर्वेषु—समस्त; वेदेषु—वेदों में; ब्राह्मणस्य—परब्रह्म को जानने वाले का; विजानतः—पूर्ण ज्ञानी का।

एक छोटे से कूप का सारा कार्य एक विशाल जलाशय से तुरन्त पूरा हो जाता है। इसी प्रकार वेदों के आन्तरिक तात्पर्य जानने वाले को उनके सारे प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं।

तात्पर्य

वेदों के *कर्मकाण्ड* विभाग में वर्णित अनुष्ठानों एवं यज्ञों का ध्येय आत्म-साक्षात्कार के क्रमिक विकास को प्रोत्साहित करना है। और आत्म-साक्षात्कार का ध्येय *भगवद्गीता* के पंद्रहवें अध्याय में (१५.१५) इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—वेद अध्ययन का ध्येय जगत् के आदि कारण भगवान् कृष्ण को जानना है। अतः आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है—कृष्ण को तथा उनके साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को समझना। कृष्ण के साथ जीवों के सम्बन्ध का भी उल्लेख *भगवद्गीता* के पंद्रहवें अध्याय में (१५.७) ही हुआ है। जीवात्माएँ भगवान् के अंश स्वरूप हैं, अतः प्रत्येक जीव द्वारा कृष्णभावनामृत को जागृत करना वैदिक ज्ञान की सर्वोच्च पूर्णावस्था है। *श्रीमद्भागवत* में (३.३३.७) इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—
अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।

तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते।

“हे प्रभो, आपके पवित्र नाम का जाप करने वाला भले ही *चाण्डाल* जैसे निम्न परिवार में क्यों न उत्पन्न हुआ हो, किन्तु वह आत्म-साक्षात्कार के सर्वोच्च पद पर स्थित होता है। ऐसा व्यक्ति अवश्य ही वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार सारी तपस्याएँ सम्पन्न किये होता है और अनेकानेक बार तीर्थस्थानों में स्नान करके वेदों का अध्ययन किये होता है। ऐसा व्यक्ति आर्य कुल में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।”

अतः मनुष्य को इतना बुद्धिमान् तो होना ही चाहिए कि केवल अनुष्ठानों के प्रति आसक्त न रहकर वेदों के उद्देश्य को समझे और अधिकाधिक इन्द्रियतृप्ति के लिए ही स्वर्गलोक जाने की कामना न करे। इस युग में सामान्य व्यक्ति के लिए न तो वैदिक अनुष्ठानों के समस्त विधि-विधानों का पालन करना सम्भव है और न सारे *वेदान्त* तथा *उपनिषदों* का सर्वांग अध्ययन कर पाना सहज है। वेदों के उद्देश्य को सम्पन्न करने के लिए प्रचुर समय, शक्ति, ज्ञान तथा साधन की आवश्यकता

होती है। इस युग में ऐसा कर पाना सम्भव नहीं है, किन्तु वैदिक संस्कृति का परम लक्ष्य भगवन्नाम कीर्तन द्वारा प्राप्त हो जाता है जिसकी संस्तुति पतितात्माओं के उद्धारक भगवान् चैतन्य द्वारा हुई है। जब चैतन्य से महान वैदिक पंडित प्रकाशानन्द सरस्वती ने पूछा कि आप वेदान्त दर्शन का अध्ययन न करके एक भावुक की भाँति पवित्र नाम का कीर्तन क्यों करते हैं तो उन्होंने उत्तर दिया कि मेरे गुरु ने मुझे बड़ा मूर्ख समझकर भगवान् कृष्ण के नाम का कीर्तन करने की आज्ञा दी। अतः उन्होंने ऐसा ही किया और वे पागल की भाँति भावोन्मत्त हो गए। इस कलियुग में अधिकांश जनता मूर्ख है और वेदान्त दर्शन समझ पाने के लिए पर्याप्त शिक्षित नहीं है। वेदान्त दर्शन के परम उद्देश्य की पूर्ति भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करने से हो जाती है। वेदान्त वैदिक ज्ञान की पराकाष्ठा है और वेदान्त दर्शन के प्रणेता तथा ज्ञाता भगवान् कृष्ण हैं। सबसे बड़ा वेदान्ती तो वह महात्मा है जो भगवान् के पवित्र नाम का जप करने में आनन्द लेता है। सम्पूर्ण वैदिक रहस्यवाद का यही चरम उद्देश्य है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

कर्मणि—कर्म करने में; एव—निश्चय ही; अधिकारः—अधिकार; ते—तुम्हारा; मा—कभी नहीं; फलेषु—(कर्म) फलों में; कदाचन—कदापि; मा—कभी नहीं; कर्म-फल—कर्म का फल; हेतुः—कारण; भूः—होओ; मा—कभी नहीं; ते—तुम्हारी; सङ्गः—आसक्ति; अस्तु—हो; अकर्मणि—कर्म न करने में।

तुम्हें अपना कर्म (कर्तव्य) करने का अधिकार है, किन्तु कर्म के फलों के तुम अधिकारी नहीं हो। तुम न तो कभी अपने आपको अपने कर्मों के फलों का कारण मानो, न ही कर्म न करने में कभी आसक्त होओ।

तात्पर्य

यहाँ पर तीन विचारणीय बातें हैं—कर्म (स्वधर्म), विकर्म तथा अकर्म। कर्म (स्वधर्म) वे कार्य हैं जिनका आदेश प्रकृति के गुणों के रूप में प्राप्त

किया जाता है। अधिकारी की सम्मति के बिना किये गये कर्म विकर्म कहलाते हैं और अकर्म का अर्थ है—अपने कर्मों को न करना। भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया कि वह निष्क्रिय न हो, अपितु फल के प्रति आसक्त हुए बिना अपना कर्म करे। कर्म फल के प्रति आसक्त रहने वाला भी कर्म का कारण है। इस तरह वह ऐसे कर्मफलों का भोक्ता होता है। जहाँ तक निर्धारित कर्मों का सम्बन्ध है वे तीन उपश्रेणियों के हो सकते हैं—यथा नित्यकर्म, आपात्कालीन कर्म तथा इच्छित कर्म। नित्यकर्म फल की इच्छा बिना शास्त्रों के निर्देशानुसार सतोगुण में रहकर किये जाते हैं। फल युक्त कर्म बन्धन के कारण बनते हैं, अतः ऐसे कर्म अशुभ हैं। हर व्यक्ति को अपने कर्म पर अधिकार है, किन्तु उसे फल से अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए। ऐसे निष्काम कर्म निस्सन्देह मुक्ति पथ की ओर ले जाने वाले हैं।

अतएव भगवान् ने अर्जुन को फलासक्ति रहित होकर कर्म (स्वधर्म) के रूप में युद्ध करने की आज्ञा दी। उसका युद्ध-विमुख होना आसक्ति का दूसरा पहलू है। ऐसी आसक्ति से कभी मुक्ति पथ की प्राप्ति नहीं हो पाती। आसक्ति चाहे स्वीकारात्मक हो या निषेधात्मक, वह बन्धन का कारण है। अकर्म पापमय है। अतः कर्तव्य के रूप में युद्ध करना ही अर्जुन के लिए मुक्ति का एकमात्र कल्याणकारी मार्ग था।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

योग-स्थः—समभाव होकर; कुरु—करो; कर्माणि—अपने कर्म; सङ्गम्—आसक्ति को; त्यक्त्वा—त्याग कर; धनञ्जय—हे अर्जुन; सिद्धि-असिद्धयोः—सफलता तथा विफलता में; समः—समभाव; भूत्वा—होकर; समत्वम्—समता; योगः—योग; उच्यते—कहा जाता है।

हे अर्जुन! जय अथवा पराजय की समस्त आसक्ति त्याग कर समभाव से अपना कर्म करो। ऐसी समता योग कहलाती है।

तात्पर्य

कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि वह योग में स्थित होकर कर्म करे और योग है क्या? योग का अर्थ है सदैव चंचल रहने वाली इन्द्रियों को वश में रखते हुए परमतत्त्व में मन को एकाग्र करना। और परमतत्त्व कौन है? भगवान् ही परमतत्त्व हैं और चूँकि वे स्वयं अर्जुन को युद्ध करने के लिए कह रहे हैं, अतः अर्जुन को युद्ध के फल से कोई सरोकार नहीं है। जय या पराजय कृष्ण के लिए विचारणीय हैं, अर्जुन को तो बस श्रीकृष्ण के निर्देशानुसार कर्म करना है। कृष्ण के निर्देश का पालन ही वास्तविक योग है और इसका अभ्यास कृष्णभावनामृत नामक विधि द्वारा किया जाता है। एकमात्र कृष्णभावनामृत के माध्यम से ही स्वामित्व भाव का परित्याग किया जा सकता है। इसके लिए उसे कृष्ण का दास या उनके दासों का दास बनना होता है। कृष्णभावनामृत में कर्म करने की यही एक विधि है जिससे योग में स्थित होकर कर्म किया जा सकता है।

अर्जुन क्षत्रिय है, अतः वह वर्णाश्रम-धर्म का अनुयायी है। विष्णु-पुराण में कहा गया है कि वर्णाश्रम-धर्म का एकमात्र उद्देश्य विष्णु को प्रसन्न करना है। सांसारिक नियम है कि लोग पहले अपनी तुष्टि करते हैं, किन्तु यहाँ तो अपने को तुष्ट न करके कृष्ण को तुष्ट करना है। अतः कृष्ण को तुष्ट किये बिना कोई वर्णाश्रम-धर्म का पालन कर भी नहीं सकता। यहाँ पर परोक्ष रूप से अर्जुन को कृष्ण द्वारा बताई गई विधि के अनुसार कर्म करने का आदेश है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

दूरेण—दूर से ही त्याग दो; हि—निश्चय ही; अवरम्—गर्हित, निन्दनीय; कर्म—कर्म; बुद्धि-योगात्—कृष्णभावनामृत के बल पर; धनञ्जय—हे सम्पत्ति को जीतने वाले; बुद्धौ—ऐसी चेतना में; शरणम्—पूर्ण समर्पण, आश्रय; अन्विच्छ—प्रयत्न करो; कृपणाः—कंजूस व्यक्ति; फल-हेतवः—सकाम कर्म की अभिलाषा वाले।

हे धनंजय! भक्ति के द्वारा समस्त गर्हित कर्मों से दूर रहो और उसी भाव से भगवान् की शरण ग्रहण करो। जो व्यक्ति अपने सकाम कर्म-फलों को भोगना चाहते हैं, वे कृपण हैं।

तात्पर्य

जो व्यक्ति भगवान् के दास रूप में अपने स्वरूप को समझ लेता है वह कृष्णभावनामृत में स्थित रहने के अतिरिक्त सारे कर्मों को छोड़ देता है। जीव के लिए ऐसी भक्ति कर्म का सही मार्ग है। केवल कृपण ही अपने सकाम कर्मों का फल भोगना चाहते हैं, किन्तु इससे वे भवबन्धन में और अधिक फँसते जाते हैं। कृष्णभावनामृत के अतिरिक्त जितने भी कर्म सम्पन्न किये जाते हैं वे गर्हित हैं क्योंकि इससे कर्ता जन्म-मृत्यु के चक्र में लगातार फँसा रहता है। अतः कभी इसकी आकांक्षा नहीं करनी चाहिए कि मैं कर्म का कारण बनूँ। कृष्णभावनामृत में हर कार्य कृष्ण की तुष्टि के लिए किया जाना चाहिए। कृपणों को यह ज्ञात नहीं है कि दैववश या कठोर श्रम से अर्जित सम्पत्ति का किस तरह सदुपयोग करें। मनुष्य को अपनी सारी शक्ति कृष्णभावनामृत अर्जित करने में लगानी चाहिए। इससे उसका जीवन सफल हो सकेगा। कृपणों की भाँति अभागे व्यक्ति अपनी मानवी शक्ति को भगवान् की सेवा में नहीं लगाते।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

बुद्धि-युक्तः—भक्ति में लगा रहने वाला; जहाति—मुक्त हो सकता है; इह—इस जीवन में; उभे—दोनों; सुकृत-दुष्कृते—अच्छे तथा बुरे फल; तस्मात्—अतः; योगाय—भक्ति के लिए; युज्यस्व—इस तरह लग जाओ; योगः—कृष्णभावनामृत; कर्मसु—समस्त कार्यों में; कौशलम्—कुशलता, कला।

भक्ति में संलग्न मनुष्य इस जीवन में ही अच्छे तथा बुरे कार्यों से अपने को मुक्त कर लेता है। अतः योग के लिए प्रयत्न करो क्योंकि सारा कार्य-कौशल यही है।

तात्पर्य

जीवात्मा अनादि काल से अपने अच्छे तथा बुरे कर्म के फलों को संचित करता रहा है। फलतः वह निरन्तर अपने स्वरूप से अनभिज्ञ बना रहा है। इस अज्ञान को भगवद्गीता के उपदेश से दूर किया जा सकता है। यह हमें पूर्ण रूप में भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में जाने तथा जन्म-जन्मान्तर कर्म-

फल की शृंखला का शिकार बनने से मुक्त होने का उपदेश देती है, अतः अर्जुन को कृष्णभावनामृत में कार्य करने के लिए कहा गया है क्योंकि कर्मफल के शुद्ध होने की यही प्रक्रिया है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

कर्म-जम्—सकाम कर्मों के कारण; बुद्धि-युक्ताः—भक्ति में लगे; हि—निश्चय ही;
फलम्—फल; त्यक्त्वा—त्याग कर; मनीषिणः—बड़े-बड़े ऋषि मुनि या भक्तगण;
जन्म-बन्ध—जन्म तथा मृत्यु के बन्धन से; विनिर्मुक्ताः—मुक्त; पदम्—पद पर;
गच्छन्ति—पहुँचते हैं; अनामयम्—बिना कष्ट के।

इस तरह भगवद्भक्ति में लगे रहकर बड़े-बड़े ऋषि, मुनि अथवा भक्तगण अपने आपको इस भौतिक संसार में कर्म के फलों से मुक्त कर लेते हैं। इस प्रकार वे जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट जाते हैं और भगवान् के पास जाकर उस अवस्था को प्राप्त करते हैं, जो समस्त दुखों से परे है।

तात्पर्य

मुक्त जीवों का सम्बन्ध उस स्थान से होता है जहाँ भौतिक कष्ट नहीं होते।
भागवत में (१०.१४.५८) कहा गया है—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः ।

भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद्विपदां न तेषाम् ॥

“जिसने उन भगवान् के चरणकमल रूपी नाव को ग्रहण कर लिया है, जो दृश्य जगत् के आश्रय हैं और मुकुन्द नाम से विख्यात हैं अर्थात् मुक्ति के दाता हैं, उसके लिए यह भवसागर गोखुर में समाये जल के समान है। उसका लक्ष्य परं पदम् है अर्थात् वह स्थान जहाँ भौतिक कष्ट नहीं है या कि वैकुण्ठ है; वह स्थान नहीं जहाँ पद-पद पर संकट हो।”

अज्ञानवश मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि यह भौतिक जगत् ऐसा दुखमय स्थान है जहाँ पद-पद पर संकट हैं। केवल अज्ञानवश अल्पज्ञानी पुरुष यह सोच कर कि कर्मों से वे सुखी रह सकेंगे सकाम कर्म करते हुए

स्थिति को सहन करते हैं। उन्हें यह ज्ञात नहीं है कि इस संसार में कहीं भी कोई भी शरीर दुखों से रहित नहीं है। संसार में सर्वत्र जीवन के दुख—जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि—विद्यमान हैं। किन्तु जो अपने वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है और इस प्रकार भगवान् की स्थिति को समझ लेता है, वही भगवान् की प्रेमा-भक्ति में लगता है। फलस्वरूप वह वैकुण्ठलोक जाने का अधिकारी बन जाता है जहाँ न तो भौतिक कष्टमय जीवन है न ही काल का प्रभाव तथा मृत्यु है। अपने स्वरूप को जानने का अर्थ है भगवान् की अलौकिक स्थिति को भी जान लेना। जो भ्रमवश यह सोचता है कि जीव की स्थिति तथा भगवान् की स्थिति एकसमान हैं उसे समझो कि वह अंधकार में है और स्वयं भगवद्भक्ति करने में असमर्थ है। वह अपने आपको प्रभु मान लेता है और इस तरह जन्म-मृत्यु की पुनरावृत्ति का पथ चुन लेता है। किन्तु जो यह समझते हुए कि उसकी स्थिति सेवक की है अपने को भगवान् की सेवा में लगा देता है वह तुरन्त ही वैकुण्ठलोक जाने का अधिकारी बन जाता है। भगवान् की सेवा कर्मयोग या बुद्धियोग कहलाती है, जिसे स्पष्ट शब्दों में भगवद्भक्ति कहते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; ते—तुम्हारा; मोह—मोह के; कलिलम्—घने जंगल को; बुद्धिः—बुद्धिमय दिव्य सेवा; व्यतितरिष्यति—पार कर जाती है; तदा—उस समय; गन्ता असि—तुम जाओगे; निर्वेदम्—विरक्ति को; श्रोतव्यस्य—सुनने योग्य के प्रति; श्रुतस्य—सुने हुए का; च—भी।

जब तुम्हारी बुद्धि मोह रूपी सघन वन को पार कर जायेगी तो तुम सुने हुए तथा सुनने योग्य सब के प्रति अन्यमनस्क हो जाओगे।

तात्पर्य

भगवद्भक्तों के जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जिन्हें भगवद्भक्ति के कारण वैदिक कर्मकाण्ड से विरक्ति हो गई। जब मनुष्य श्रीकृष्ण को तथा

उनके साथ अपने सम्बन्ध को वास्तविक रूप में समझ लेता है तो वह सकाम कर्मों के अनुष्ठानों के प्रति पूर्णतया अन्यमनस्क हो जाता है, भले ही वह अनुभवी ब्राह्मण क्यों न हो। भक्त परम्परा के महान भक्त तथा आचार्य श्री माधवेन्द्रपुरी का कहना है—

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवतो भोः स्नान तुभ्यं नमो ।

भो देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम् ॥

यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तमस्य कंसद्विषः ।

स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे ॥

“हे मेरी त्रिकाल प्रार्थनाओ, तुम्हारी जय हो। हे स्नान, तुम्हें प्रणाम है। हे देवपितृगण, अब मैं आप लोगों के लिए तर्पण करने में असमर्थ हूँ। अब तो जहाँ भी बैठता हूँ, यादव कुलवंशी, कंस के हंता श्रीकृष्ण का ही स्मरण करता हूँ और इस तरह मैं अपने पापमय बन्धन से मुक्त हो सकता हूँ। मैं सोचता हूँ कि यही मेरे लिए पर्याप्त है।”

वैदिक रस्में तथा अनुष्ठान यथा त्रिकाल संध्या, प्रातःकालीन स्नान, पितृ-तर्पण आदि नवदीक्षितों के लिए अनिवार्य हैं। किन्तु जब कोई पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो और कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा हो, तो वह इन विधि-विधानों के प्रति उदासीन हो जाता है, क्योंकि उसे पहले ही सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है। यदि कोई परमेश्वर कृष्ण की सेवा करके ज्ञान को प्राप्त होता है तो उसे शास्त्रों में वर्णित विभिन्न प्रकार की तपस्याएँ तथा यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी प्रकार जो यह नहीं समझता कि वेदों का उद्देश्य कृष्ण तक पहुँचना है और अपने आपको अनुष्ठानादि में व्यस्त रखता है, वह केवल अपना समय नष्ट करता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति शब्द-ब्रह्म की सीमा या वेदों तथा उपनिषदों की परिधि को भी लाँघ जाते हैं।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

श्रुति—वैदिक ज्ञान के; विप्रतिपन्ना—कर्मफलों से प्रभावित हुए बिना; ते—तुम्हारा; यदा—जब; स्थास्यति—स्थिर हो जाएगा; निश्चला—एकनिष्ठ; समाधौ—दिव्य चेतना

या कृष्णभावनामृत में; अचला—स्थिर; बुद्धि:—बुद्धि; तदा—तब; योगम्—आत्म-साक्षात्कार; अवाप्स्यसि—तुम प्राप्त करोगे।

जब तुम्हारा मन वेदों की अलंकारमयी भाषा से विचलित न हो और वह आत्म-साक्षात्कार की समाधि में स्थिर हो जाय, तब तुम्हें दिव्य चेतना प्राप्त हो जायेगी।

तात्पर्य

‘कोई समाधि में है’ इस कथन का अर्थ यह होता है कि वह पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है अर्थात् उसने पूर्ण समाधि में ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् को प्राप्त कर लिया है। आत्म-साक्षात्कार की सर्वोच्च सिद्धि यह जान लेना है कि मनुष्य कृष्ण का शाश्वत दास है और उसका एकमात्र कर्तव्य कृष्णभावनामृत में अपने सारे कर्म करना है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति या भगवान् के एकनिष्ठ भक्त को न तो वेदों की अलंकारमयी वाणी से विचलित होना चाहिए न ही स्वर्ग जाने के उद्देश्य से सकाम कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिए। कृष्णभावनामृत में मनुष्य कृष्ण के सान्निध्य में रहता है और कृष्ण से प्राप्त सारे आदेश उस दिव्य अवस्था में समझे जा सकते हैं। ऐसे कार्यों के परिणामस्वरूप निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति निश्चित है। उसे कृष्ण या उनके प्रतिनिधि गुरु की आज्ञाओं का पालन मात्र करना होगा।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; स्थित-प्रज्ञस्य—कृष्णभावनामृत में स्थिर हुए व्यक्ति की; का—क्या; भाषा—भाषा; समाधि-स्थस्य—समाधि में स्थित पुरुष का; केशव—हे कृष्ण; स्थित-धीः—कृष्णभावना में स्थिर व्यक्ति; किम्—क्या; प्रभाषेत—बोलता है; किम्—कैसे; आसीत—रहता है; ब्रजेत—चलता है; किम्—कैसे।

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! अध्यात्म में लीन चेतना वाले व्यक्ति (स्थितप्रज्ञ) के क्या लक्षण हैं? वह कैसे बोलता है तथा उसकी भाषा क्या है? वह किस तरह बैठता और चलता है?

तात्पर्य

जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के उसकी विशिष्ट स्थिति के अनुसार कुछ लक्षण होते हैं उसी प्रकार कृष्णभावनाभावित पुरुष का भी विशिष्ट स्वभाव होता है—यथा उसका बोलना, चलना, सोचना आदि। जिस प्रकार धनी पुरुष के कुछ लक्षण होते हैं, जिनसे वह धनवान जाना जाता है, जिस तरह रोगी अपने रोग के लक्षणों से रुग्ण जाना जाता है या कि विद्वान् अपने गुणों से विद्वान् जाना जाता है, उसी तरह कृष्ण की दिव्य चेतना से युक्त व्यक्ति अपने विशिष्ट लक्षणों से जाना जाता है। इन लक्षणों को *भगवद्गीता* से जाना जा सकता है। किन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति किस तरह बोलता है, क्योंकि वाणी ही किसी मनुष्य का सबसे महत्वपूर्ण गुण है। कहा जाता है कि मूर्ख का पता तब तक नहीं लगता जब तक वह बोलता नहीं। एक बने-ठने मूर्ख को तब तक नहीं पहचाना जा सकता जब तक वह बोले नहीं, किन्तु बोलते ही उसका यथार्थ रूप प्रकट हो जाता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति का सर्वप्रमुख लक्षण यह है कि वह केवल कृष्ण तथा उन्हीं से सम्बद्ध विषयों के बारे में बोलता है। फिर तो अन्य लक्षण स्वतः प्रकट हो जाते हैं, जिनका उल्लेख आगे किया गया है।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्यार्थं मनोगतान् ।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; प्रजहाति—त्यागता है; यदा—जब; कामान्—इन्द्रियतृप्ति की इच्छाएँ; सर्वान्—सभी प्रकार की; पार्थ—हे पृथापुत्र; मनः-गतान्—मनोरथ का; आत्मनि—आत्मा की शुद्ध अवस्था में; एव—निश्चय ही; आत्मना—विशुद्ध मन से; तुष्टः—सन्तुष्ट, प्रसन्न; स्थित-प्रज्ञः—अध्यात्म में स्थित; तदा—उस समय, तब; उच्यते—कहा जाता है।

श्रीभगवान् ने कहा—हे पार्थ! जब मनुष्य मनोधर्म से उत्पन्न होने वाली इन्द्रियतृप्ति की समस्त कामनाओं का परित्याग कर देता है और जब इस तरह से विशुद्ध हुआ उसका मन आत्मा

में सन्तोष प्राप्त करता है तो वह विशुद्ध दिव्य चेतना को प्राप्त (स्थितप्रज्ञ) कहा जाता है।

तात्पर्य

श्रीमद्भागवत में पुष्टि हुई है कि जो मनुष्य पूर्णतया कृष्णभावनाभावित या भगवद्भक्त होता है उसमें महर्षियों के समस्त सद्गुण पाये जाते हैं, किन्तु जो व्यक्ति अध्यात्म में स्थित नहीं होता उसमें एक भी योग्यता नहीं होती क्योंकि वह अपने मनोधर्म पर ही आश्रित रहता है। फलतः यहाँ यह ठीक ही कहा गया है कि व्यक्ति को मनोधर्म द्वारा कल्पित सारी विषय-वासनाओं को त्यागना होता है। कृत्रिम साधन से इनको रोक पाना सम्भव नहीं। किन्तु यदि कोई कृष्णभावनामृत में लगा हो तो सारी विषय-वासनाएँ स्वतः बिना किसी प्रयास के दब जाती हैं। अतः मनुष्य को बिना किसी झिझक के कृष्णभावनामृत में लगना होगा क्योंकि यह भक्ति उसे दिव्य चेतना प्राप्त करने में सहायक होगी। अत्यधिक उन्नत जीवात्मा (महात्मा) अपने आपको परमेश्वर का शाश्वत दास मानकर आत्मतुष्ट रहता है। ऐसे आध्यात्मिक पुरुष के पास भौतिकता से उत्पन्न एक भी विषय-वासना फटक नहीं पाती। वह अपने को निरन्तर भगवान् का सेवक मानते हुए सहज रूप में सदैव प्रसन्न रहता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

दुःखेषु—तीनों तापों में; अनुद्विग्न-मनाः—मन में विचलित हुए बिना; सुखेषु—सुख में; विगत-स्पृहः—रुचिरहित होने; वीत—मुक्त; राग—आसक्ति; भय—भय; क्रोधः—तथा क्रोध से; स्थित-धीः—स्थिर मन वाला; मुनिः—मुनि; उच्यते—कहलाता है।

जो त्रय तापों के होने पर भी मन में विचलित नहीं होता अथवा सुख में प्रसन्न नहीं होता और जो आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त है, वह स्थिर मन वाला मुनि कहलाता है।

तात्पर्य

मुनि शब्द का अर्थ है वह जो शुष्क चिन्तन के लिए मन को अनेक प्रकार से उद्वेलित करे, किन्तु किसी तथ्य पर न पहुँच सके। कहा जाता है कि प्रत्येक मुनि का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है और जब तक एक मुनि अन्य मुनियों से भिन्न न हो तब तक उसे वास्तविक मुनि नहीं कहा जा सकता। *न चासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम् (महाभारत, वनपर्व ३१३.११७)* किन्तु जिस *स्थितधीः मुनि* का भगवान् ने यहाँ उल्लेख किया है वह सामान्य मुनि से भिन्न है। *स्थितधीः मुनि* सदैव कृष्णभावनाभावित रहता है क्योंकि वह सारा सृजनात्मक चिन्तन पूरा कर चुका होता है। वह *प्रशान्त निःशेष मनोरथान्तर (स्तोत्र रत्न ४३)* कहलाता है या जिसने शुष्कचिन्तन की अवस्था पार कर ली है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि भगवान् श्रीकृष्ण या वासुदेव ही सब कुछ हैं (*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*) वह स्थिरचित्त मुनि कहलाता है। ऐसा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति तीनों तापों के संघात से तनिक भी विचलित नहीं होता क्योंकि वह इन कष्टों (तापों) को भगवत्कृपा के रूप में लेता है और पूर्व पापों के कारण अपने को अधिक कष्ट के लिए योग्य मानता है और वह देखता है कि उसके सारे दुख भगवत्कृपा से रंचमात्र रह जाते हैं। इसी प्रकार जब वह सुखी होता है तो अपने को सुख के लिए अयोग्य मानकर इसका भी श्रेय भगवान् को देता है। वह सोचता है कि भगवत्कृपा से ही वह ऐसी सुखद स्थिति में है और भगवान् की सेवा और अच्छी तरह से कर सकता है। और भगवान् की सेवा के लिए तो वह सदैव साहस करने के लिए सन्नद्ध रहता है। वह राग या विराग से प्रभावित नहीं होता। राग का अर्थ होता है अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तुओं को ग्रहण करना और विराग का अर्थ है ऐसी ऐंद्रिय आसक्ति का अभाव। किन्तु कृष्णभावनामृत में स्थिर व्यक्ति में न राग होता है न विराग क्योंकि उसका पूरा जीवन ही भगवत्सेवा में अर्पित रहता है। फलतः सारे प्रयास असफल रहने पर भी वह क्रुद्ध नहीं होता। चाहे विजय हो या न हो, कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपने संकल्प का पक्का होता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; सर्वत्र—सभी जगह; अनभिस्नेहः—स्नेहशून्य; तत्—उस; तत्—उस;
प्राप्य—प्राप्त करके; शुभ—अच्छा; अशुभम्—बुरा; न—कभी नहीं; अभिनन्दति—
प्रशंसा करता है; न—कभी नहीं; द्वेष्टि—द्वेष करता है; तस्य—उसका; प्रज्ञा—पूर्ण
ज्ञान; प्रतिष्ठिता—अचल।

इस भौतिक जगत् में जो व्यक्ति न तो शुभ की प्राप्ति से हर्षित होता है और न अशुभ के प्राप्त होने पर उससे घृणा करता है, वह पूर्ण ज्ञान में स्थिर होता है।

तात्पर्य

भौतिक जगत् में सदा ही कुछ न कुछ उथल-पुथल होती रहती है—उसका परिणाम अच्छा हो चाहे बुरा। जो ऐसी उथल-पुथल से विचलित नहीं होता, जो अच्छे (शुभ) या बुरे (अशुभ) से अप्रभावित रहता है उसे कृष्णभावनामृत में स्थिर समझना चाहिए। जब तक मनुष्य इस भौतिक संसार में है तब तक अच्छाई या बुराई की सम्भावना रहती है क्योंकि यह संसार द्वैत (द्वंद्वों) से पूर्ण है। किन्तु जो कृष्णभावनामृत में स्थिर है वह अच्छाई या बुराई से अछूता रहता है क्योंकि उसका सरोकार कृष्ण से रहता है जो सर्वमंगलमय हैं। ऐसे कृष्णभावनामृत से मनुष्य पूर्ण ज्ञान की स्थिति प्राप्त कर लेता है, जिसे समाधि कहते हैं।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; संहरते—समेट लेता है; च—भी; अयम्—यह; कूर्मः—कछुवा;
अङ्गानि—अंग; इव—सदृश; सर्वशः—एकसाथ; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; इन्द्रिय-
अर्थेभ्यः—इन्द्रियविषयों से; तस्य—उसकी; प्रज्ञा—चेतना; प्रतिष्ठिता—स्थिर।

जिस प्रकार कछुवा अपने अंगों को संकुचित करके खोल के भीतर कर लेता है, उसी तरह जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को

इन्द्रियविषयों से खींच लेता है, वह पूर्ण चेतना में दृढ़तापूर्वक स्थिर होता है।

तात्पर्य

किसी योगी, भक्त या आत्मसिद्ध व्यक्ति की कसौटी यह है कि वह अपनी योजना के अनुसार इन्द्रियों को वश में कर सके, किन्तु अधिकांश व्यक्ति अपनी इन्द्रियों के दास बने रहते हैं और इन्द्रियों के ही कहने पर चलते हैं। यह है उत्तर इस प्रश्न का कि योगी किस प्रकार स्थित होता है। इन्द्रियों की तुलना विषैले सर्पों से की गई है। वे अत्यन्त स्वतंत्रतापूर्वक तथा बिना किसी नियन्त्रण के कर्म करना चाहती हैं। योगी या भक्त को इन सर्पों को वश में करने के लिए, एक सपेरे की भाँति अत्यन्त प्रबल होना चाहिए। वह उन्हें कभी भी कार्य करने की छूट नहीं देता। शास्त्रों में अनेक आदेश हैं, उनमें से कुछ 'करो' तथा कुछ 'न करो' से सम्बद्ध हैं। जब तक कोई इन, 'करो या न करो' का पालन नहीं कर पाता और इन्द्रियभोग पर संयम नहीं बरतता है तब तक उसका कृष्णभावनामृत में स्थिर हो पाना असम्भव है। यहाँ पर सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कछुवे का है। वह किसी भी समय अपने अंग समेट सकता है और पुनः विशिष्ट उद्देश्यों से उन्हें प्रकट कर सकता है। इसी प्रकार कृष्णभावनाभावित व्यक्तियों की इन्द्रियाँ भी केवल भगवान् की विशिष्ट सेवाओं के लिए काम आती हैं अन्यथा उनका संकोच कर लिया जाता है। अर्जुन को उपदेश दिया जा रहा है कि वह अपनी इन्द्रियों को आत्मतुष्टि में न करके भगवान् की सेवा में लगाये। अपनी इन्द्रियों को सदैव भगवान् की सेवा में लगाये रखना कूर्म द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त के अनुरूप है, जो अपनी इन्द्रियों को समेटे रखता है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

विषया:—इन्द्रियभोग की वस्तुएँ; विनिवर्तन्ते—दूर रहने के लिए अभ्यास की जाती हैं; निराहारस्य—निषेधात्मक प्रतिबन्धों से; देहिनः—देहवान् जीव के लिए; रस-वर्जम्—स्वाद का त्याग करता है; रसः—भोगेच्छा; अपि—यद्यपि है; अस्य—उसका; परम्—अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तुएँ; दृष्ट्वा—अनुभव होने पर; निवर्तते—वह समाप्त हो जाता है।

देहधारी जीव इन्द्रियभोग से भले ही निवृत्त हो जाय पर उसमें इन्द्रियभोगों की इच्छा बनी रहती है। लेकिन उत्तम रस के अनुभव होने से ऐसे कार्यों को बन्द करने पर वह भक्ति में स्थिर हो जाता है।

तात्पर्य

जब तक कोई अध्यात्म को प्राप्त न हो तब तक इन्द्रियभोग से विरत होना असम्भव है। विधि-विधानों द्वारा इन्द्रियभोग को संयमित करने की विधि वैसी ही है जैसे किसी रोगी के किसी भोज्य पदार्थ खाने पर प्रतिबन्ध लगाना। किन्तु इससे रोगी की न तो भोजन के प्रति रुचि समाप्त होती है और न वह ऐसा प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहता है। इसी प्रकार अल्पज्ञानी व्यक्तियों के लिए इन्द्रियसंयमन के लिए अष्टांग-योग जैसी विधि की संस्तुति की जाती है जिसमें *यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान* आदि सम्मिलित हैं। किन्तु जिसने कृष्णभावनामृत के पथ पर प्रगति के क्रम में परमेश्वर कृष्ण के सौन्दर्य का रसास्वादन कर लिया है, उसे जड़ भौतिक वस्तुओं में कोई रुचि नहीं रह जाती। अतः आध्यात्मिक जीवन में ये सारे प्रतिबन्ध अल्पज्ञानी नवदीक्षितों के लिए हैं। ऐसे प्रतिबन्ध तभी तक ठीक हैं जब तक कृष्णभावनामृत में रुचि जागृत नहीं हो जाती। और जब वास्तव में रुचि जग जाती है, तो मनुष्य में स्वतः ऐसी वस्तुओं के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

यततः—प्रयत्न करते हुए; हि—निश्चय ही; अपि—के बावजूद; कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र; पुरुषस्य—मनुष्य की; विपश्चितः—विवेक से युक्त; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; प्रमाथीनि—उत्तेजित; हरन्ति—फेंकती हैं; प्रसभम्—बल से; मनः—मन को।

हे अर्जुन! इन्द्रियाँ इतनी प्रबल तथा वेगवान हैं कि वे उस विवेकी पुरुष के मन को भी बलपूर्वक हर लेती हैं, जो उन्हें वश में करने का प्रयत्न करता है।

तात्पर्य

अनेक विद्वान्, ऋषि, दार्शनिक तथा अध्यात्मवादी इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु उनमें से बड़े से बड़ा भी कभी-कभी विचलित मन के कारण इन्द्रियभोग का लक्ष्य बन जाता है। यहाँ तक कि विश्वामित्र जैसे महर्षि तथा पूर्ण योगी को भी मेनका के साथ विषयभोग में प्रवृत्त होना पड़ा, यद्यपि वे इन्द्रियनिग्रह के लिए कठिन तपस्या तथा योग कर रहे थे। विश्व इतिहास में इसी तरह के अनेक दृष्टान्त हैं। अतः पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हुए बिना मन तथा इन्द्रियों को वश में कर सकना अत्यन्त कठिन है। मन को कृष्ण में लगाये बिना मनुष्य ऐसे भौतिक कार्यों को बन्द नहीं कर सकता। परम साधु तथा भक्त यामुनाचार्य ने एक व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं—

यदवधि मम चेतः कृष्णपदारविन्दे

नवनवरसधामन्युद्यतं रन्तुमासीत् ।

तदवधि बत नारीसंगमे स्मर्यमाने

भवति मुखविकारः सुष्ठु निष्ठीवनं च ॥

“जब से मेरा मन भगवान् कृष्ण के चरणारविन्दों की सेवा में लग गया है और जब से मैं नित्य नव दिव्यरस का अनुभव करता रहा हूँ, तब से स्त्री-प्रसंग का विचार आते ही मेरा मन उधर से फिर जाता है और मैं ऐसे विचार पर थू-थू करता हूँ।”

कृष्णभावनामृत इतनी दिव्य सुन्दर वस्तु है कि इसके प्रभाव से भौतिक भोग स्वतः नीरस हो जाता है। यह वैसा ही है जैसे कोई भूखा मनुष्य प्रचुर मात्रा में पुष्टिदायक भोजन करके अपनी भूख मिटा ले। महाराज अम्बरीष भी परम योगी दुर्वासा मुनि पर इसीलिए विजय पा सके क्योंकि उनका मन निरन्तर कृष्णभावनामृत में लगा रहता था (स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने) ।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

तानि—उन इन्द्रियों को; सर्वाणि—समस्त; संयम्य—वश में करके; युक्तः—लगा हुआ; आसीत—स्थित होना चाहिए; मत्-परः—मुझमें; वशे—पूर्णतया वश में; हि—

निश्चय ही; यस्य—जिसकी; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; तस्य—उसकी; प्रज्ञा—चेतना; प्रतिष्ठिता—स्थिर।

जो इन्द्रियों को पूर्णतया वश में रखते हुए इन्द्रिय-संयमन करता है और अपनी चेतना को मुझमें स्थिर कर देता है, वह मनुष्य स्थिरबुद्धि कहलाता है।

तात्पर्य

इस श्लोक में बताया गया है कि योगसिद्धि की चरम अनुभूति कृष्णभावनामृत ही है। जब तक कोई कृष्णभावनाभावित नहीं होता तब तक इन्द्रियों को वश में करना सम्भव नहीं है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दुर्वासा मुनि का झगड़ा महाराज अम्बरीष से हुआ, क्योंकि वे गर्ववश महाराज अम्बरीष पर क्रुद्ध हो गये, जिससे अपनी इन्द्रियों को रोक नहीं पाये। दूसरी ओर यद्यपि राजा मुनि के समान योगी न था, किन्तु वह कृष्ण का भक्त था और उसने मुनि के सारे अन्याय सह लिये, जिससे वह विजयी हुआ। राजा अपनी इन्द्रियों को वश में कर सका क्योंकि उसमें निम्नलिखित गुण थे, जिनका उल्लेख श्रीमद्भागवत में (९.४.१८-२०) हुआ है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।

करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥

मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शोऽगसंगमम् ।

घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमतुलस्या रसनां तदर्पिते ॥

पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।

कार्मं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥

“राजा अम्बरीष ने अपना मन भगवान् कृष्ण के चरणारविन्दों पर स्थिर कर दिया, अपनी वाणी भगवान् के धाम की चर्चा करने में लगा दी, अपने कानों को भगवान् की लीलाओं के सुनने में, अपने हाथों को भगवान् का मन्दिर साफ करने में, अपनी आँखों को भगवान् का स्वरूप देखने में, अपने शरीर को भक्त के शरीर का स्पर्श करने में, अपनी नाक को भगवान् के चरणारविन्दों पर भेंट किये गये फूलों की गंध सूँघने में, अपनी जीभ को उन्हें अर्पित तुलसी दलों का आस्वाद करने में, अपने पाँवों को जहाँ-

जहाँ भगवान् के मन्दिर हैं उन स्थानों की यात्रा करने में, अपने सिर को भगवान् को नमस्कार करने में तथा अपनी इच्छाओं को भगवान् की इच्छाओं को पूरा करने में लगा दिया और इन गुणों के कारण वे भगवान् के मत्पर भक्त बनने के योग्य हो गये।”

इस प्रसंग में मत्पर शब्द अत्यन्त सार्थक है। कोई मत्पर किस तरह हो सकता है इसका वर्णन महाराज अम्बरीष के जीवन में बताया गया है। मत्पर परम्परा के महान विद्वान् तथा आचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण का कहना है—*मद्भक्ति प्रभावेन सर्वेन्द्रियविजयपूर्विका स्वात्मदृष्टिः सुलभेति भावः*—इन्द्रियों को केवल कृष्ण की भक्ति के बल से वश में किया जा सकता है। कभी-कभी अग्नि का भी उदाहरण दिया जाता है—“जिस प्रकार जलती हुई अग्नि कमरे के भीतर की सारी वस्तुएँ जला देती है उसी प्रकार योगी के हृदय में स्थित भगवान् विष्णु सारे मलों को जला देते हैं।” योग-सूत्र भी विष्णु का ध्यान आवश्यक बताता है, शून्य का नहीं। तथाकथित योगी जो विष्णुपद को छोड़ कर अन्य किसी वस्तु का ध्यान धरते हैं वे केवल मृगमरीचिकाओं की खोज में वृथा ही अपना समय गँवाते हैं। हमें कृष्णभावनाभावित होना चाहिए—भगवान् के प्रति अनुरक्त होना चाहिए। असली योग का यही उद्देश्य है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

ध्यायतः—चिन्तन करते हुए; विषयान्—इन्द्रिय विषयों को; पुंसः—मनुष्य की; सङ्गः—आसक्ति; तेषु—उन इन्द्रिय विषयों में; उपजायते—विकसित होती है; सङ्गात्—आसक्ति से; सञ्जायते—विकसित होती है; कामः—इच्छा; कामात्—काम से; क्रोधः—क्रोध; अभिजायते—प्रकट होता है।

इन्द्रियविषयों का चिन्तन करते हुए मनुष्य की उनमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है और ऐसी आसक्ति से काम उत्पन्न होता है और फिर काम से क्रोध प्रकट होता है।

तात्पर्य

जो मनुष्य कृष्णभावनाभावित नहीं है उसमें इन्द्रियविषयों के चिन्तन से भौतिक इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। इन्द्रियों को किसी न किसी कार्य में लगे रहना चाहिए और यदि वे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में नहीं लगी रहेंगी तो वे निश्चय ही भौतिकतावाद में लगना चाहेंगी। इस भौतिक जगत् में हर एक प्राणी इन्द्रियविषयों के अधीन है, यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा शिवजी भी। तो स्वर्ग के अन्य देवताओं के विषय में क्या कहा जा सकता है? इस संसार के जंजाल से निकलने का एकमात्र उपाय है—कृष्णभावनाभावित होना। शिव ध्यानमग्न थे, किन्तु जब पार्वती ने विषयभोग के लिए उन्हें उत्तेजित किया, तो वे सहमत हो गये जिसके फलस्वरूप कार्तिकेय का जन्म हुआ। इसी प्रकार तरुण भगवद्भक्त हरिदास ठाकुर को माया देवी के अवतार ने मोहित करने का प्रयास किया, किन्तु विशुद्ध कृष्ण भक्ति के कारण वे इस कसौटी में खरे उतरे। जैसा कि यामुनाचार्य के उपर्युक्त श्लोक में बताया जा चुका है, भगवान् का एकनिष्ठ भक्त भगवान् की संगति के आध्यात्मिक सुख का आस्वादन करने के कारण समस्त भौतिक इन्द्रियसुख को त्याग देता है। अतः जो कृष्णभावनाभावित नहीं है वह कृत्रिम दमन के द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में करने में कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, अन्त में अवश्य असफल होगा, क्योंकि विषय सुख का रंचमात्र विचार भी उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए उत्तेजित कर देगा।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

क्रोधात्—क्रोध से; भवति—होता है; सम्मोहः—पूर्ण मोह; सम्मोहात्—मोह से;
स्मृति—स्मरणशक्ति का; विभ्रमः—मोह; स्मृति-भ्रंशात्—स्मृति के मोह से; बुद्धि-
नाशः—बुद्धि का विनाश; बुद्धि-नाशात्—तथा बुद्धिनाश से; प्रणश्यति—अधःपतन
होता है।

क्रोध से पूर्ण मोह उत्पन्न होता है और मोह से स्मरणशक्ति का विभ्रम हो जाता है। जब स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, तो

बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि नष्ट होने पर मनुष्य भव-कूप में पुनः गिर जाता है।

तात्पर्य

श्रील रूप गोस्वामी ने हमें यह आदेश दिया है—

प्रापञ्चितया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ।

मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्यु कथ्यते ॥

(भक्तिरसामृत सिन्धु १.२.२५८) कृष्णभावनामृत के विकास से मनुष्य जान सकता है कि प्रत्येक वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा के लिए किया जा सकता है। जो कृष्णभावनामृत के ज्ञान से रहित हैं वे कृत्रिम ढंग से भौतिक विषयों से बचने का प्रयास करते हैं, फलतः वे भवबन्धन से मोक्ष की कामना करते हुए भी वैराग्य की चरम अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाते। उनका तथाकथित वैराग्य फल्यु अर्थात् गौण कहलाता है। इसके विपरीत कृष्णभावनाभावित व्यक्ति जानता है कि प्रत्येक वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा में किस प्रकार किया जाय फलतः वह भौतिक चेतना का शिकार नहीं होता। उदाहरणार्थ, निर्विशेषवादी के अनुसार भगवान् निराकार होने के कारण भोजन नहीं कर सकते, अतः वह अच्छे खाद्यों से बचता रहता है, किन्तु भक्त जानता है कि कृष्ण परम भोक्ता हैं और भक्तिपूर्वक उन पर जो भी भेंट चढ़ायी जाती है, उसे वे खाते हैं। अतः भगवान् को अच्छा भोजन चढ़ाने के बाद भक्त प्रसाद ग्रहण करता है। इस प्रकार हर वस्तु प्राणवान हो जाती है और अधःपतन का कोई संकट नहीं रहता। भक्त कृष्णभावनामृत में रहकर प्रसाद ग्रहण करता है जबकि अभक्त इसे पदार्थ के रूप में तिरस्कार कर देता है। अतः निर्विशेषवादी अपने कृत्रिम त्याग के कारण जीवन को भोग नहीं पाता और यही कारण है कि मन के थोड़े से विचलन से वह भव-कूप में पुनः आ गिरता है। कहा जाता है कि मुक्ति के स्तर तक पहुँच जाने पर भी ऐसा जीव नीचे गिर जाता है, क्योंकि उसे भक्ति का कोई आश्रय नहीं मिलता।

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

राग—आसक्ति; द्वेष—तथा वैराग्य से; विमुक्तैः—मुक्त रहने वाले से; तु—लेकिन;
विषयान्—इन्द्रियविषयों को; इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा; चरन्—भोगता हुआ; आत्म-
वश्यैः—अपने वश में; विधेय-आत्मा—नियमित स्वाधीनता पालक; प्रसादम्—
भगवत्कृपा को; अधिगच्छति—प्राप्त करता है।

किन्तु समस्त राग तथा द्वेष से मुक्त एवं अपनी इन्द्रियों को संयम द्वारा वश में करने में समर्थ व्यक्ति भगवान् की पूर्ण कृपा प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य

यह पहले ही बताया जा चुका है कि कृत्रिम विधि से इन्द्रियों पर बाह्यरूप से नियन्त्रण किया जा सकता है, किन्तु जब तक इन्द्रियाँ भगवान् की दिव्य सेवा में नहीं लगाई जातीं तब तक नीचे गिरने की सम्भावना बनी रहती है। यद्यपि पूर्णतया कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ऊपर से विषयी-स्तर पर क्यों न दिखे, किन्तु कृष्णभावनाभावित होने से वह विषय-कर्मों में आसक्त नहीं होता। उसका एकमात्र उद्देश्य तो कृष्ण को प्रसन्न करना रहता है, अन्य कुछ नहीं। अतः वह समस्त आसक्ति तथा विरक्ति से मुक्त होता है। कृष्ण की इच्छा होने पर भक्त सामान्यतया अवांछित कार्य भी कर सकता है, किन्तु यदि कृष्ण की इच्छा नहीं है तो वह उस कार्य को भी नहीं करेगा जिसे वह सामान्य रूप से अपने लिए करता हो। अतः कर्म करना या न करना उसके वश में रहता है क्योंकि वह केवल कृष्ण के निर्देश के अनुसार ही कार्य करता है। यही चेतना भगवान् की अहैतुकी कृपा है, जिसकी प्राप्ति भक्त को इन्द्रियों में आसक्त होते हुए भी हो सकती है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

प्रसादे—भगवान् की अहैतुकी कृपा प्राप्त होने पर; सर्व—सभी; दुःखानाम्—भौतिक दुखों का; हानिः—क्षय, नाश; अस्य—उसके; उपजायते—होता है; प्रसन्न-चेतसः—प्रसन्नचित्त वाले की; हि—निश्चय ही; आशु—तुरन्त; बुद्धिः—बुद्धि; परि—पर्याप्त; अवतिष्ठते—स्थिर हो जाती है।

इस प्रकार से कृष्णभावनामृत में तुष्ट व्यक्ति के लिए संसार के तीनों ताप नष्ट हो जाते हैं और ऐसी तुष्ट चेतना होने पर उसकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

न अस्ति—नहीं हो सकती; बुद्धिः—दिव्य बुद्धि; अयुक्तस्य—कृष्णभावना से सम्बन्धित न रहने वाले में; न—नहीं; च—तथा; अयुक्तस्य—कृष्णभावना से शून्य पुरुष का; भावना—स्थिर चित्त (सुख में) ; न—नहीं; च—तथा; अभावयतः—जो स्थिर नहीं है उसके; शान्तिः—शान्ति; अशान्तस्य—अशान्त का; कुतः—कहाँ है; सुखम्—सुख।

जो कृष्णभावनामृत में परमेश्वर से सम्बन्धित नहीं है उसकी न तो बुद्धि दिव्य होती है और न ही मन स्थिर होता है जिसके बिना शान्ति की कोई सम्भावना नहीं है। शान्ति के बिना सुख हो भी कैसे सकता है ?

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित हुए बिना शान्ति की कोई सम्भावना नहीं हो सकती। अतः पाँचवें अध्याय में (५.२९) इसकी पुष्टि की गई है कि जब मनुष्य यह समझ लेता है कि कृष्ण ही यज्ञ तथा तपस्या के उत्तम फलों के एकमात्र भोक्ता हैं और समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं तथा वे समस्त जीवों के असली मित्र हैं तभी उसे वास्तविक शान्ति मिल सकती है। अतः यदि कोई कृष्णभावनाभावित नहीं है तो उसके मन का कोई अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकता। मन की चंचलता का एकमात्र कारण अन्तिम लक्ष्य का अभाव है। जब मनुष्य को यह पता चल जाता है कि कृष्ण ही भोक्ता, स्वामी तथा सबके मित्र हैं, तो स्थिर चित्त होकर शान्ति का अनुभव किया जा सकता है। अतएव जो कृष्ण से सम्बन्ध न रखकर कार्य में लगा रहता है, वह निश्चय ही सदा दुखी और अशान्त रहेगा, भले ही वह जीवन में शान्ति तथा आध्यात्मिक उन्नति का कितना ही दिखावा क्यों न करे। कृष्णभावनामृत

स्वयं प्रकट होने वाली शान्तिमयी अवस्था है, जिसकी प्राप्ति कृष्ण के सम्बन्ध से ही हो सकती है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों के; हि—निश्चय ही; चरताम्—विचरण करते हुए; यत्—जिसके साथ; मनः—मन; अनुविधीयते—निरन्तर लगा रहता है; तत्—वह; अस्य—इसकी; हरति—हर लेती है; प्रज्ञाम्—बुद्धि को; वायुः—वायु; नावम्—नाव को; इव—जैसे; अम्भसि—जल में।

जिस प्रकार पानी में तैरती नाव को प्रचण्ड वायु दूर बहा ले जाती है उसी प्रकार विचरणशील इन्द्रियों में से कोई एक जिस पर मन निरन्तर लगा रहता है, मनुष्य की बुद्धि को हर लेती है।

तात्पर्य

यदि समस्त इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में न लगी रहें और यदि इनमें से एक भी अपनी तृप्ति में लगी रहती है, तो वह भक्त को दिव्य प्रगति-पथ से विपथ कर सकती है। जैसा कि महाराज अम्बरीष के जीवन में बताया गया है, समस्त इन्द्रियों को कृष्णभावनामृत में लगा रहना चाहिए क्योंकि मन को वश में करने की यही सही एवं सरल विधि है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; यस्य—जिसकी; महा-बाहो—हे महाबाहु; निगृहीतानि—इस तरह वशीभूत; सर्वशः—सब प्रकार से; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; इन्द्रिय-अर्थेभ्यः—इन्द्रियविषयों से; तस्य—उसकी; प्रज्ञा—बुद्धि; प्रतिष्ठिता—स्थिर।

अतः हे महाबाहु! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से सब प्रकार से विरत होकर उसके वश में हैं, उसी की बुद्धि निस्सन्देह स्थिर है।

तात्पर्य

कृष्णभावनामृत के द्वारा या सारी इन्द्रियों को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगाकर इन्द्रियतृप्ति की बलवती शक्तियों को दमित किया जा सकता है। जिस प्रकार शत्रुओं का दमन श्रेष्ठ सेना द्वारा किया जाता है उसी प्रकार इन्द्रियों का दमन किसी मानवीय प्रयास के द्वारा नहीं, अपितु उन्हें भगवान् की सेवा में लगाये रखकर किया जा सकता है। जो व्यक्ति यह हृदयंगम कर लेता है कि कृष्णभावनामृत के द्वारा बुद्धि स्थिर होती है और इस कला का अभ्यास प्रामाणिक गुरु के पथ-प्रदर्शन में करता है, वह साधक अथवा मोक्ष का अधिकारी कहलाता है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

या—जो; निशा—रात्रि है; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों की; तस्याम्—उसमें; जागर्ति—जागता रहता है; संयमी—आत्मसंयमी व्यक्ति; यस्याम्—जिसमें; जाग्रति—जागते हैं; भूतानि—सभी प्राणी; सा—वह; निशा—रात्रि; पश्यतः—आत्मनिरीक्षण करने वाले; मुनेः—मुनि के लिए।

जो सब जीवों के लिए रात्रि है, वह आत्मसंयमी के जागने का समय है और जो समस्त जीवों के जागने का समय है वह आत्मनिरीक्षक मुनि के लिए रात्रि है।

तात्पर्य

बुद्धिमान् मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं। एक श्रेणी के मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के लिए भौतिक कार्य करने में निपुण होते हैं और दूसरी श्रेणी के मनुष्य आत्मनिरीक्षक हैं, जो आत्म-साक्षात्कार के अनुशीलन के लिए जागते हैं। विचारवान् पुरुषों या आत्मनिरीक्षक मुनि के कार्य भौतिकता में लीन पुरुषों के लिए रात्रि के समान हैं। भौतिकतावादी व्यक्ति ऐसी रात्रि में अनभिज्ञता के कारण आत्म-साक्षात्कार के प्रति सोये रहते हैं। आत्मनिरीक्षक मुनि भौतिकतावादी पुरुषों की रात्रि में जागे रहते हैं। मुनि को आध्यात्मिक अनुशीलन की क्रमिक उन्नति में दिव्य आनन्द का अनुभव होता है, किन्तु भौतिकतावादी कार्यों में लगा व्यक्ति, आत्म-साक्षात्कार के प्रति सोया

रहकर अनेक प्रकार के इन्द्रियसुखों का स्वप्न देखता है और उसी सुप्तावस्था में कभी सुख तो कभी दुख का अनुभव करता है। आत्मनिरीक्षक मनुष्य भौतिक सुख तथा दुख के प्रति अन्यमनस्क रहता है। वह भौतिक घातों से अविचलित रहकर आत्म-साक्षात्कार के कार्यों में लगा रहता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

आपूर्यमाणम्—नित्य परिपूर्ण; अचल-प्रतिष्ठम्—दृढ़तापूर्वक स्थित; समुद्रम्—समुद्र में; आपः—नदियाँ; प्रविशन्ति—प्रवेश करती हैं; यद्वत्—जिस प्रकार; तद्वत्—उसी प्रकार; कामाः—इच्छाएँ; यम्—जिसमें; प्रविशन्ति—प्रवेश करती हैं; सर्वे—सभी; सः—वह व्यक्ति; शान्तिम्—शान्ति; आप्नोति—प्राप्त करता है; न—नहीं; काम-कामी—इच्छाओं को पूरा करने का इच्छुक।

जो पुरुष समुद्र में निरन्तर प्रवेश करती रहने वाली नदियों के समान इच्छाओं के निरन्तर प्रवाह से विचलित नहीं होता और जो सदैव स्थिर रहता है, वही शान्ति प्राप्त कर सकता है, वह नहीं, जो ऐसी इच्छाओं को तुष्ट करने की चेष्टा करता हो।

तात्पर्य

यद्यपि विशाल सागर में सदैव जल रहता है, किन्तु, वर्षा ऋतु में विशेषतया यह अधिकाधिक जल से भरता जाता है तो भी सागर उतने पर ही स्थिर रहता है। न तो वह विक्षुब्ध होता है और न तट की सीमा का उल्लंघन करता है। यही स्थिति कृष्णभावनाभावित व्यक्ति की है। जब तक मनुष्य शरीर है, तब तक इन्द्रियतृप्ति के लिए शरीर की माँगें बनी रहेंगी। किन्तु भक्त अपनी पूर्णता के कारण ऐसी इच्छाओं से विचलित नहीं होता। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि भगवान् उसकी सारी आवश्यकताएँ पूरी करते रहते हैं। अतः वह सागर के तुल्य होता है—अपने में सदैव पूर्ण। सागर में गिरने वाली नदियों

के समान इच्छाएँ उसके पास आ सकती हैं, किन्तु वह अपने कार्य में स्थिर रहता है और इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से रंचभर भी विचलित नहीं होता। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति का यही प्रमाण है—इच्छाओं के होते हुए भी वह कभी इन्द्रियतृप्ति के लिए उन्मुख नहीं होता। चूँकि वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में तुष्ट रहता है, अतः वह समुद्र की भाँति स्थिर रहकर पूर्ण शान्ति का आनन्द उठा सकता है। किन्तु दूसरे लोग, जो मुक्ति की सीमा तक इच्छाओं की पूर्ति करना चाहते हैं, फिर भौतिक सफलताओं का क्या कहना—उन्हें कभी शान्ति नहीं मिल पाती। कर्मी, मुमुक्षु तथा वे योगी—सिद्धि के कामी हैं, ये सभी अपूर्ण इच्छाओं के कारण दुखी रहते हैं। किन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष भगवत्सेवा में सुखी रहता है और उसकी कोई इच्छा नहीं होती। वस्तुतः वह तो तथाकथित भवबन्धन से मोक्ष की भी कामना नहीं करता। कृष्ण के भक्तों की कोई भौतिक इच्छा नहीं रहती, इसलिए वे पूर्ण शान्त रहते हैं।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

विहाय—छोड़कर; कामान्—इन्द्रियतृप्ति की भौतिक इच्छाएँ; यः—जो; सर्वान्—समस्त; पुमान्—पुरुष; चरति—रहता है; निःस्पृहः—इच्छारहित; निर्ममः—ममतारहित; निरहङ्कारः—अहंकारशून्य; सः—वह; शान्तिम्—पूर्ण शान्ति को; अधिगच्छति—प्राप्त होता है।

जिस व्यक्ति ने इन्द्रियतृप्ति की समस्त इच्छाओं का परित्याग कर दिया है, जो इच्छाओं से रहित रहता है और जिसने सारी ममता त्याग दी है तथा अहंकार से रहित है, वही वास्तविक शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य

निःस्पृह होने का अर्थ है—इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी इच्छा न करना। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनाभावित होने की इच्छा वास्तव में इच्छाशून्यता या निःस्पृहता है। इस शरीर को मिथ्या ही आत्मा माने बिना तथा संसार की

किसी वस्तु में कल्पित स्वामित्व रखे बिना श्रीकृष्ण के नित्य दास के रूप में अपनी यथार्थ स्थिति को जान लेना कृष्णभावनामृत की सिद्ध अवस्था है। जो इस सिद्ध अवस्था में स्थित है वह जानता है कि श्रीकृष्ण ही प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं, अतः प्रत्येक वस्तु का उपयोग उनकी तुष्टि के लिए किया जाना चाहिए। अर्जुन आत्म-तुष्टि के लिए युद्ध नहीं करना चाहता था, किन्तु जब वह पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित हो गया तो उसने युद्ध किया, क्योंकि कृष्ण चाहते थे कि वह युद्ध करे। उसे अपने लिए युद्ध करने की कोई इच्छा न थी, किन्तु वही अर्जुन कृष्ण के लिए अपनी शक्ति भर लड़ा। वास्तविक इच्छाशून्यता कृष्ण-तुष्टि के लिए इच्छा है, यह इच्छाओं को नष्ट करने का कोई कृत्रिम प्रयास नहीं है। जीव कभी भी इच्छाशून्य या इन्द्रियशून्य नहीं हो सकता, किन्तु उसे अपनी इच्छाओं की गुणवत्ता बदलनी होती है। भौतिक दृष्टि से इच्छाशून्य व्यक्ति जानता है कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की है (ईशावास्यमिदं सर्वम्), अतः वह किसी वस्तु पर अपना स्वामित्व घोषित नहीं करता। यह दिव्य ज्ञान आत्म-साक्षात्कार पर आधारित है—अर्थात् इस ज्ञान पर कि प्रत्येक जीव कृष्ण का अंश-स्वरूप है और जीव की शाश्वत स्थिति कभी न तो कृष्ण के तुल्य होती है न उनसे बढ़कर। इस प्रकार कृष्णभावनामृत का यह ज्ञान ही वास्तविक शान्ति का मूल सिद्धान्त है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

एषा—यह; ब्राह्मी—आध्यात्मिक; स्थितिः—स्थिति; पार्थ—हे पृथापुत्र; न—कभी नहीं; एनाम्—इसको; प्राप्य—प्राप्त करके; विमुह्यति—मोहित होता है; स्थित्वा—स्थित होकर; अस्याम्—इसमें; अन्त-काले—जीवन के अन्तिम समय में; अपि—भी; ब्रह्म-निर्वाणम्—भगवद्धाम को; ऋच्छति—प्राप्त होता है।

यह आध्यात्मिक तथा ईश्वरीय जीवन का पथ है, जिसे प्राप्त करके मनुष्य मोहित नहीं होता। यदि कोई जीवन के अन्तिम

समय में भी इस तरह स्थित हो, तो वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है।

तात्पर्य

मनुष्य कृष्णभावनामृत या दिव्य जीवन को एक क्षण में प्राप्त कर सकता है और हो सकता है कि उसे लाखों जन्मों के बाद भी न प्राप्त हो। यह तो सत्य को समझने और स्वीकार करने की बात है। खट्वांग महाराज ने अपनी मृत्यु के कुछ मिनट पूर्व कृष्ण के शरणागत होकर ऐसी जीवन अवस्था प्राप्त कर ली। *निर्वाण* का अर्थ है—भौतिकतावादी जीवन शैली का अन्त। बौद्ध दर्शन के अनुसार इस भौतिक जीवन के पूरा होने पर केवल शून्य शेष रहता है, किन्तु *भगवद्गीता* की शिक्षा इससे भिन्न है। वास्तविक जीवन का शुभारम्भ इस भौतिक जीवन के पूरा होने पर होता है। स्थूल भौतिकतावादी के लिए यह जानना पर्याप्त होगा कि इस भौतिक जीवन का अन्त निश्चित है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत व्यक्तियों के लिए इस जीवन के बाद अन्य जीवन प्रारम्भ होता है। इस जीवन का अन्त होने के पूर्व यदि कोई कृष्णभावनाभावित हो जाय तो उसे तुरन्त *ब्रह्म-निर्वाण* अवस्था प्राप्त हो जाती है। भगवद्धाम तथा भगवद्भक्ति के बीच कोई अन्तर नहीं है। चूँकि दोनों चरम पद हैं, अतः भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में व्यस्त रहने का अर्थ है—भगवद्धाम को प्राप्त करना। भौतिक जगत् में इन्द्रियतृप्ति विषयक कार्य होते हैं और आध्यात्मिक जगत् में कृष्णभावनामृत विषयक। इसी जीवन में ही कृष्णभावनामृत की प्राप्ति तत्काल ब्रह्मप्राप्ति जैसी है और जो कृष्णभावनामृत में स्थित होता है, वह निश्चित रूप से पहले ही भगवद्धाम में प्रवेश कर चुका होता है।

ब्रह्म और भौतिक पदार्थ एक दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं। अतः *ब्राह्मी-स्थिति* का अर्थ है, “भौतिक कार्यों के पद पर न होना।” *भगवद्गीता* में भगवद्भक्ति को मुक्त अवस्था माना गया है (*स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। अतः *ब्राह्मी-स्थिति* भौतिक बन्धन से मुक्ति है।

श्रील भक्ति विनोद ठाकुर ने *भगवद्गीता* के इस द्वितीय अध्याय को सम्पूर्ण ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय के रूप में संक्षिप्त किया है। *भगवद्गीता* के प्रतिपाद्य हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। इस द्वितीय अध्याय में

कर्मयोग तथा ज्ञानयोग की स्पष्ट व्याख्या हुई है एवं भक्तियोग की भी झाँकी दे दी गई है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय “गीता का सार” का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।